* श्री सूत्रकृतांग सूत्र *

(गुजराती छायानुवाद का हिन्दी अनुवाद)

बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा बन्धणं परिजाणिया ॥

जीवके बन्धनका कारण जानकर, उसे दूर करना चाहिये ॥

मूल गुजराती संपादक—

गोपालदास जीवाभाई पटेल

वीर संवत २४६४] [ईस्वी सन १९३८

मूल्य [illegible]

आमुख

श्री हंसराज जिनागम विद्या प्रचारक फंड ग्रंथमाला का यह तीसरा पुष्प जनता की सेवा में प्रस्तुत है। प्रथम के दोनों ग्रन्थ उत्तराध्ययन सूत्र और दशवैकालिक सूत्र के अनुवाद हैं। यह ग्रन्थ सुयगडांग सूत्र का छायानुवाद है। प्रथम के दोनों ग्रन्थ मूल सूत्र के शब्दशः अनुवाद हैं। यह ग्रन्थ उससे भिन्न कोटि का है। मूल ग्रन्थ के विषयों का स्वतंत्र शैली से इसमें संपादन किया गया है, मूल ग्रन्थ की संपूर्ण छाया प्रामाणिक स्वरूप में रखने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। फिर भी अपने प्राचीन अमूल्य परम्परागत शास्त्रों को आज समाजगत करने के लिये शैली भेद करना आवश्यक है। इस प्रकार करने से स्वाभाविक रूप से ग्रंथ में संक्षेप हो गया है इसके साथ ही विषयों का निरुपण भी क्रमबद्ध हो गया है और पिष्टपेषण भी नहीं हुआ है। तत्त्वज्ञान जैसे गहन विषय को भी सर्व साधारण सरलता से समझ सके इसलिये भाषा सरल रक्खी गई है। ऐसे भाववाही अनुवादों से ही जनता में प्रचार हो सकता है।

यह ग्रन्थ मूल गुजराती पुस्तक का अनुवाद है। गुजराती भाषा के संपादक श्री गोपालदास जीवाभाई पटेल जैन तत्त्वज्ञान के अच्छे विद्वान् हैं और श्री पूंजाभाई जैन ग्रन्थ माला में यह और इसी प्रकार की अन्य पुस्तक भी प्रकाशित हुई हैं।

श्री पूंजाभाई जैन ग्रन्थ माला की कार्यवाहक समितिने इस ग्रन्थ के अनुवाद करने की अनुमति दी, उसके लिये उसका आभार मानता हूं। इसके बाद इसी ग्रन्थमाला की द्वितीय पुस्तक "श्री महावीर स्वामीनो आचार धर्म" जो श्री आचारांग सूत्र का छायानुवाद है, उसका हिन्दी अनुवाद प्रकट किया जायगा।

बम्बई
ता. २५-२-१९३८

सेवक—
चिमनलाल चकुभाई शाह
सहमंत्री
श्री अ. भा. श्वे. स्था. जैन कॉन्फरन्स

प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रन्थ जैन-आगमों में प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थ, सूत्रकृतांग का 'छायानुवाद' है। दर्पण में गिरनेवाली 'छाया' तो मूल वस्तु का यथावत् प्रतिबिम्ब होती है, किन्तु यहां 'छाया' से मूल का संक्षिप्त दर्शन कराने का उद्देश्य है। पाठकों के प्रति ग्रन्थ के सम्पादक का यह उद्देश्य सर्वथा स्तुत्य है क्योंकि ऐसे प्राचीन ग्रन्थों के जिस वर्णन में आधुनिक युग के रुचि नहीं, और जिसके पठन-पाठन से कोई लाभ विशेष होना संभव नहीं, उसको छोड़कर केवल वह भाग जो पाठक को रुचिकर हो, ज्ञानवर्धक हो और लाभदायक हो प्रकट किया जाना चाहिये। ऐसी पद्धति को अपना कर ग्रन्थ को उपयोगी बनाया है, और इस प्रकार पाठकों की अच्छी सेवा की है।

'सूत्रकृतांग' जैन-आगमों में एक प्राचीन और अमूल्य ग्रन्थ है। इसमें "नवदीक्षित श्रमणों को संयम में स्थिर करने के लिये और उनकी मलिन मति को शुद्ध करने के लिये जैन सिद्धान्तों का वर्णन है," इसके सिवाय भी, आधुनिक काल के पाठक को, जिसे अपने देश का प्राचीन बौद्धिकज्ञान जानने की उत्सुकता हो, जैन एवं अजैन 'दूसरे वादियों के सिद्धान्त' जानने को मिलते हैं। उसी प्रकार किसी को सांसारिक जीवन से उच्च आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करने की इच्छा हो तो उसे भी जैन-अजैन के क्षुद्र भेद से सर्वथा विलग

रहे हुए 'जीव-अजीव, लोक-अलोक, पुण्य पाप, आस्रव संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष'' का विवेचन सहायक हो सकता है।

मेरे लिये सदा से यह एक आश्चर्य की बात रही है, और जो कोई अपने प्राचीन धर्मग्रन्थों का निष्पक्ष और तत्त्वग्राही दृष्टि से अवलोकन करेंगे तो उन्हें भी आश्चर्य हुए बिना न रहेगा कि जैन, बौद्ध और ब्राह्मण अर्थात् वैदिक धर्म के अनुयायियों के बीच इतना विरोध क्यों? ये तीनों वास्तव में एक ही धर्म की तीन शाखा हैं। तत्त्वज्ञान के दर्शन में विरोध हो तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि तत्त्व एक ऐसा विशाल पदार्थ है कि जिज्ञासु जिसके एक अंश (Part) को कृत्स्न (Whole) मान कर "अंधगजन्याय" के अनुसार उसी को सच्चा समझकर आपसमें झगड़ते बैठे, यह सर्वथा स्वाभाविक है। किन्तु इस प्रकार का परस्पर विरोध तो उन धर्मों के अवान्तर दर्शनों में भी क्या नहीं है? नैतिक सिद्धान्त और आध्यात्मिक उन्नति के आचारों में तो तीनों धर्मों में मूलतः इतनी एकता है कि परस्पर उनमें कोई विरोध ही नहीं समझ पड़ता।

अपने एक वाक्य का स्मरण यहां कराने की मैं धृष्टता करता हूं। "जैन बने बिना ब्राह्मण नहीं हो पाता और ब्राह्मण बने बिना जैन नहीं हो पाता"। तात्पर्य यह कि जैन धर्म का तत्त्व इन्द्रियां और मनोवृत्तियों को जीतने में है, और ब्राह्मण धर्म का तत्व विश्व की विशालता आत्मा में उतारने में है। तो फिर इन्द्रियों और मनोवृत्तियों को जीते बिना आत्मा में विशालता कैसे आ सकती है? और आत्मा को विशाल बनाये बिना इन्द्रियों और मनोवृत्तियों को कैसे जीता जा सकता है? यही कारण है कि इस ग्रन्थ में 'ब्राह्मण' शब्द के सच्चे अर्थ में और 'ब्राह्मण' की ऊंची भावना को व्यक्त करने के लिये श्री महावीर स्वामी को 'मतिमान ब्राह्मण महावीर' (प्रथम खण्ड के

अध्ययन ६-१०) कहा है; और संसार का सत्य विचार करने वालों में ' श्रमण और ब्राह्मण को बताया है (प्रथम खण्ड के अध्ययन १२ वें में) इसी प्रकार उत्तराध्ययन आदि अनेक जैन ग्रंथों में ' ब्राह्मण ' की प्रशंसा की है और सच्चा ब्राह्मण कौन है यह समझाया है। निस्सन्देह यह प्रशंसा सच्चे ब्राह्मण की ही है, परन्तु सच्चा जैन बने बिना किस जैन को वर्तमान ब्राह्मण की निंदा करने का अधिकार है ? और इसी प्रकार सच्चा ब्राह्मण बने बिना वर्तमान जैन की निंदा करने का भी किसी ब्राह्मण को अधिकार नहीं है । जब ब्राह्मण सच्चा ब्राह्मण और जैन सच्चा जैन बन जायगा तो फिर निन्दा करने का अवकाश-ही कहाँ रहेगा ? ब्राह्मण और जैन दोनों के ग्रन्थों को एकत्रित करके उनमें से आध्यात्मिक जीवन के उपयोगी आचार विचार जीवन में उतारने का कर्तव्य है ।

प्राचीन भारत के तत्त्वज्ञान के अभ्यासी के लिये सूत्रकृतांग में वर्णित अजैन सिद्धान्त रोचक एवं ज्ञान वर्धक सिद्ध होंगे। ऐसा ही वर्णन बौद्ध धर्म के ग्रन्थ ब्रह्मजालसुत्त में भी मिलता है । ऐसे सिद्धान्तों के काल का निर्णय करना तत्त्वज्ञान के इतिहासकारों के लिये एक जटिल समस्या है । बौद्ध-त्रिपिटक और विशेषतः तदन्तर्गत ब्रह्मजालसुत्त ईस्वी सन् २०० से पूर्व के हों यह उनकी भाषा के स्वरूप से सिद्ध नहीं होता । जैन-आगमों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ, जो महावीर स्वामी से भी पूर्व के माने जाते हैं, ' पूर्व ' नाम से प्रसिद्ध हैं । और वे बाद की ' द्वादश अंग ' नामक ग्रन्थावलि के बारहवें अंग में जिसे ' दृष्टिवाद ' कहा जाता है, सम्मिलित कर लिये गये थे । किन्तु उसके काल-कवलित होने से उसके साथ ही वे ' पूर्व ' भी गये ! यह दृष्टिवाद और पूर्व यदि होते तो उनमें

अजैन तत्वों के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ मिलता और ये महावीर स्वामी से पहिले के होने के कारण इन सबका काल–निर्णय भी हो पाता। वर्तमान में सूत्रकृतांग आदि जो कुछ उपलब्ध है, उसी के प्रमाण का आधार रखना पड़ता है। सूत्रकृतांग को अन्य अंगो के समान ही सुधर्मा स्वामीने जिनका जन्म ईस्वी सन् ६०७ वर्ष पूर्व माना जाता है, महावीर स्वामी के निर्वाण के पश्चात् अपने शिष्य जम्बूस्वामी के प्रति कहा है। और ईस्वी सन् से पूर्व प्रथम शताब्दि में पाटली पुत्र में एकत्रित संघ ने जैन–आगम की रक्षा का बड़ा प्रयत्न किया, आगम स्थिर किये। फिर सन् ४२४ ईस्वी में देवर्धि क्षमाश्रमण की प्रमुखता में वल्लभीपुर में जैन संघ एकत्रित हुआ और उसने आगमों को व्यवस्थित और पत्रारूढ किये। इस प्रकार वर्तमान में आगमों का जो रूप मिलता है वह महावीर स्वामी के बाद लगभग एक हजार वर्ष पश्चात् का है। लगभग यही स्थिति प्राचीन बौद्ध और ब्राह्मण ग्रन्थों की भी है। किन्तु जिस श्रद्धा और सम्मान से प्राचीन ग्रन्थ— विशेषतः धर्मग्रन्थ— जनता सुरक्षित रखती है, उसका विचार करने पर उपलब्ध ग्रन्थ भले ही शब्दांश में अपने पूर्वरूप से भिन्न हों परन्तु अपने अर्थांश में लगभग यथापूर्व ही सुरक्षित है, यह मानना अप्रमाण नहीं है। यों सूत्रकृतांग प्राचीन दृष्टि पर प्रकाश डालता है और इसको बौद्ध ब्रह्मजालसुत्त के वर्णन से बहुत पुष्टि मिलती है। इस सूत्र में वर्णित अनेक सिद्धान्त विस्तृत रूप में जान पड़ते हैं और ये अपने विस्तृत रूप में महावीर स्वामी के समय में लोगों में प्रचलित होंगे ऐसा अनुमान होता है। मूल रूप में ये सब वाद अनेकान्त जैन दृष्टि से अपूर्ण सत्य हैं, यह ध्यान में रखना चाहिये और सब से बड़ी बात

लक्ष्य में यह रखने की है, जैसा कि यहां जैन उपदेश दिया गया है—

विशेष, ज्ञान मात्र का सार तो यही है कि, किसी भी जीव की हिंसा न करे। प्राणी त्रस (जंगम) या स्थावर निश्चित कारणों से होते हैं, जीव की दृष्टि से तो यह सब समान हैं। त्रस (जंगम) प्राणियों को तो देखकर ही जान सकते हैं। अपने समान किसी को भी दुःख अच्छा नहीं लगता, इसलिये किसी की हिंसा न करे। अहिंसा का सिद्धान्त तो यही है। अतएव मुमुक्षु चलने, सोने, बैठने खाने-पीने में सतत् जागृत, संयमी और निरासक्त रहे तथा क्रोध, मान, माया और लोभ छोड़े। इस प्रकार समिति (पांच समितियों-सम्यक् प्रवृत्तियों से युक्त-सम्यक् आचार वाला) हों; तथा कर्म आत्मा से लिप्त न हो इसके लिये अहिंसा, सत्य आदि पांच महाव्रतरूपी संवर (अर्थात् कर्मावरोधक छत्र) द्वारा सुरक्षित बने। ऐसा करके कर्मबन्धन के इस लोक में पवित्र भिक्षु पूर्णता प्राप्त करने तक रहे। [पृष्ठ-१ सूत्र ८-१३]

अहमदाबाद,
श्रावण शुक्ल १२ सं. १९९२

आनन्दशंकर बापुभाई ध्रुव,
एम्. ए. एल एल. बी.
(रिटायर्ड वाइस चान्सलर
हिन्दू युनिवर्सिटी, बनारस.)

— अनुक्रमणिका —

आमुख

प्रस्तावना

अध्ययन	प्रथम खंड	पृष्ठ

द्वितीय खंड

दानवीर श्रीमान् सेठ हंसराजभाई लक्ष्मीचन्द
अमरेली (काठियावाड)

* सूत्रकृतांग सूत्र *

प्रथम खण्ड

प्रथम अध्ययन

——(०)——

विभिन्न वादों की चर्चा

(१)

"जीव के बन्धन के कारण को जानकर, उसे दूर करना चाहिये।"

इस पर जंबुस्वामी ने सुधर्मास्वामी से पूछा—महाराज! महावीर भगवान् ने किस को बन्धन कहा है और वह कैसे छूट सकता है? (१)

सुधर्मास्वामी ने उत्तर दिया—हे आयुष्मान्! मनुष्य जब तक सचित्त-अचित्त वस्तुओं में न्यूनाधिक भी परिग्रह-बुद्धि रखता है, या दूसरों के परिग्रह का अनुमोदन करता है, तब तक वह दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। जब तक वह स्वयं प्राणी-हिंसा करता है, दूसरों से कराता है या दूसरे का अनुमोदन करता है, तबतक उसका वैर बढता जाता है अर्थात् उसे शांति नहीं मिल पाती। अपने कुल और सम्बन्धियों में मोह-ममता रखनेवाला मनुष्य, अन्त में जाकर नाश को प्राप्त होता है क्योंकि धन आदि पदार्थ या उसके सम्बन्धी उसकी सच्ची रक्षा करने में असमर्थ होते हैं।

ऐसा जान कर बुद्धिमान् मनुष्य अपने जीवन के सच्चे महत्त्व को विचार करके, ऐसे कर्म-बन्धनों के कारणों से दूर रहते हैं। [२-५]

परन्तु इस सत्य-ज्ञान का विचार न करके अनेक श्रमण और ब्राह्मण (विभिन्न वादों के प्रचारक) अपने अपने मत-मतान्तरों को पकड़े हुए हैं और विषय-भोगों में लीन रहते हैं। कितने ही मानते हैं कि "इस संसार में जो कुछ है वह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पंचभूत ही हैं। छठा शरीर या जीव इन पांचों में से उत्पन्न होता है। मतलब यह कि इन पांचों के नष्ट होने पर इनके साथ शरीर-रूप जीव का भी अन्त हो जाता है।" [६-८] दूसरे कितने ही मंद-बुद्धि आसक्त लोग ऐसा कहते हैं कि, "घड़ा, ईंट आदि में मिट्टी ही अनेक रूप दिखाई देती है, उसी प्रकार यह विश्व एक आत्मरूप होने पर भी पशु, पक्षी, वन-वृक्षादि के रूप में अनेक दिखाई देता है।" इनका कहा मानकर चलने वाले पाप कर करके दुःखों में सड़ा करते हैं [९-१०] और कितने ही दूसरे ऐसा मानने वाले हैं कि, "आत्मा या जीव जो कुछ है, वह शरीर ही है, अतएव मरने के बाद ज्ञानी या अज्ञानी कोई कुछ नही रहता; पुनर्जन्म तो है ही नहीं और न हैं पुण्य-पाप या परलोक ही। शरीर के नष्ट होते ही उस के साथ जीव का भी नाश हो जाता है। [११-१२] और कुछ दूसरे तो धृष्टतापूर्वक कहते हैं कि, "करना-कराना आदि क्रिया आत्मा नहीं करता-वह तो अकर्ता है।" [१३]

इस प्रकार कहने वाले लोग इस विविधता से परिपूर्ण जगत् का सत्यज्ञान तो फिर कैसे प्राप्त कर सकते हैं? प्रवृत्तियों के कीड़े ये अज्ञान लोग अधिक-अधिक अन्धकार में फंसते जाते [१४] हैं।

टिप्पणी—पंच भूतों से उत्पन्न जीव को माननेवालों के लिये तो जन्मान्तर में पुण्य-पाप के फल को भोगनेवाला कोई

आत्मा ही नहीं; विश्व को एक आत्मरूप माननेवालों के लिये तो एक आत्मा के सिवाय संसार में दूसरी कोई नहीं; आत्मा को पुण्य-पाप का जब अकर्ता मान लिया तो फिर कोई सुखी, कोई दुःखी ऐसा भेद ही न रहा। इस प्रकार ऐसे वादों को मानने वाले प्रवृत्तिमय संसार में फंसे रहते हैं।

दूसरे कुछ भ्रमात्मक वादों को कहता हूं। कोई कहते हैं कि "छः तत्त्व हैं; पंच महाभूत और एक आत्मा। ये सब शाश्वत नित्य हैं। इनमें से एक भी नष्ट नहीं होता। इस प्रकार जो वस्तु है ही नहीं वह क्यों कर उत्पन्न हो सकती है? इस प्रकार सब पदार्थ सर्वथा नित्य है।" [१५-१६] और कुछ मूर्ख ऐसा कहते हैं कि, "क्षण-क्षण उत्पन्न और नष्ट होनेवाले रूपादि पांच स्कन्धों के सिवाय कोई (आत्मा जैसी) वस्तु ही नहीं। तब यह सहेतुक है या अहेतुक; सबसे भिन्न है या एकरूप है, ऐसा कोई विवाद ही नहीं रहता। पृथ्वी, जल, तेज और वायु में इन चार धातुओं (धारक-पोषक तत्त्वों) का रूप (शरीर और संसार) बना हुआ है।" [१७-१८]

टिप्पणी-बौद्ध आत्मा जैसी कोई स्थायी, अविनाशी वस्तु नहीं मानते। क्षण-क्षण बदलने वाले पांच स्कन्धों को मानते हैं। (१) रूप-स्कन्धः-पृथ्वी, जल, तेज और वायु-चार महाभूत। (२) वेदना-स्कन्धः-सुख, दुख, और उपेक्षायुक्त वेदनाएं। (३) संज्ञा-स्कन्धः-एक पदार्थ से निर्मित विभिन्न वस्तुएं। यथा घड़ा, मकान ईंट आदि की विभिन्नता की निर्देशक शक्ति (४) संस्कार-स्कन्धः—प्रेम, द्वेष, अभिरुचि आदि

भावरूपी संस्कार (५) विज्ञान-स्कन्धः—आंख, कान, नाक, जीभ, काया और मन)

इतने पर भी ये सब वादी ज़ोर देकर कहते हैं कि, "गृहस्थ वानप्रस्थ या सन्यासी जो हमारे सिद्धान्त की शरण लेगा, वह, दुःखों से छूट जावेगा।" [१६]

मैं तुझे कहता हूं कि इन वादियों को सत्य ज्ञान का पता नहीं है और न उन्हें धर्म का भान ही है। अतएव वे इस संसार-सागर को पार नहीं कर सकते; और जरा-मरण-व्याधिपूर्ण संसारचक्र में डोलते हुए दुःख भोगते ही रहते हैं। ज्ञातपुत्र जिनेश्वर महावीर ने कहा है कि वे सब लोग ऊंच-नीच योनियों में भटकते हुए अनेक वार जन्म लेंगे और मरेंगे। [२०-२१]

(२)

कितने ही दूसरे जानने योग्य मिथ्या-वाद तुझे कहता हूं। दैव को मानने वाले कुछ नियतिवादी कहते हैं, "जीव हैं, उन्हें सुख-दुःख का अनुभव होता है, तथा वे अन्त में अपने स्थान से नाश को प्राप्त होते हैं। इसको सब मान लेंगे। जो सुख-दुःखादिक हैं, वे जीव के स्वयं के किये हुए नहीं हैं—ये तो दैवनियत हैं।" इस प्रकार ऐसी बातें कह कर वे अपने को पंडित मान कर दूसरी अनेक भ्रष्ट कल्पनाएं करते हैं; और उनके अनुसार उन्मार्गी आचरण करके, दुःखों से छूट ही नहीं सकते। इन घमंडी लोगों को इतना तक ज्ञान नहीं है कि सुख-दुःखमें दैव की भांति पुरुषार्थ भी सम्मिलित होता है। [१-५]

टिप्पणी-पूर्व कृत शुभाशुभ कर्मों का उदय दैव (भाग्य) होता है; पर पुरुषार्थ से नवीन कर्म करके उन शुभाशुभ कर्मों का उदय

क्षयोपशम किया जा सकता है। इस प्रकार सुख दुःख का मूल दैव और पुरुषार्थ दोनों ही हैं।

इन सब लोगों की दशा किस के समान है? जैसे शिकारी के भय से भागा हुआ हरिण निर्भय स्थान में भी भय खाता है और भयावह में निडर रहता है; जहां पानी होता है, वहां से कूद जाने या उसे पार करने के बदले, उस को देखे बिना ही उस में गिर पडता है, और इस प्रकार खुद के अज्ञान से फंसता है। ऐसे ही ये मिथ्या वादी लोक हैं, सच्चे धर्म-ज्ञान से वे घबरा कर भागते हैं और जो भयस्थान है, ऐसी अनेक प्रवृत्तियों में वे निर्भय हो विचरते हैं। प्रवृत्तियों के प्रेरक क्रोध मान, माया और लोभ का त्याग करके मनुष्य कर्मबन्ध से छूट सकता है। परन्तु ये मूर्ख वादी उस हरिण की भांति, यह तक नहीं जानते और इस संसारजाल में फंसकर वारम्वार जन्म लेते मरते हैं। [६–१३]

कितने ही ब्राह्मण और श्रमण ऐसे भी हैं, जो यही मान बैठे है कि, "ज्ञान तो हमारे पास ही है, दूसरे कुछ जानते ही नहीं।" परन्तु इन का ज्ञान है क्या? परम्परागत तत्त्वों की बातें वे तोते की तरह बोलते हैं; बस, यही है। इसी पर ये अज्ञानी तर्क लडाते हैं। ऐसा करने से ज्ञान थोडे ही प्राप्त हो जाता है। जो खुद अपंग (अयोग्य) हैं, वे दूसरे को क्या दे सकते हैं। न तो वे दूसरे के पास से सत्य ज्ञान ही प्राप्त करते हैं और न घमंड के कारण अपना ज्ञान पूरा मानना ही छोडते हैं। अपने कल्पित सत्यों की प्रशंसा और दूसरों के वचनों की निंदा करना ये लोग नहीं छोडते । इस के परिणाम में पिंजरे के पक्षी की भांति ये बन्दी बने रहते हैं। [१४-२३]

इसके अतिरिक्त एक प्राचीन मत–क्रियावाद भी जानने योग्य है। कर्म-बन्धन का सत्य ज्ञान नहीं बताने वाले इस वाद को मानने वाले

कितने ही लोग संसारमें फंसते रहे हैं। यह वाद कहता है कि, "जो मनुष्य विचार करने पर भी हिंसा नहीं करता तथा जो अनजान में हिंसा करता है, उसे कर्म का स्पर्श होता तो है अवश्य; पर उसे पूरा पाप नहीं लगता। पाप लगने के स्थान तीन हैं-स्वयं विचारपूर्वक करने से, दूसरों से कराने से, दूसरों के कार्य का अनुमोदन करने से। परन्तु यदि हृदय पापमुक्त हो तो इन तीनों के करने पर भी, निर्वाण अवश्य मिले" [२४-२७]

टिप्पणी-क्रिया और उस के फल को माननेवाले को क्रियावादी कहा जाय तो जैन खुद भी क्रियावादी हैं। पर क्रियावादियों में, बौद्धादिक- जो मानसिक हेतु पर ही जोर देते हैं और अनजान की क्रिया के परिणाम को महत्त्व नहीं देते-की भी गणना होने से यहां विरोध किया गया है। विशेष चर्चा के लिये द्वितीय खण्ड के द्वितीय अध्ययन को देखिये।

और इस वाद में एक दृष्टान्त दिया है कि, 'कोई गृहस्थ पिता अकाल में भूख से पीड़ित होकर पुत्रमांस खाता हो और कोई भिक्षु उस में से भिक्षा लेकर खावे तो उसे कर्म का लेप (बन्धन) न लगे।" [२८]

मैं कहता हूं कि यह वाद अज्ञान है। मन से जो दोष करता है, उसे निर्दोष नहीं माना जा सकता क्योंकि वह संयम में शिथिल है। परन्तु भोगासक्त लोग उक्त बातें मान कर पाप में पड़े रहते हैं। यह सब मिथ्या वादी कैसे हैं? फूटी नाव में बैठकर कोई जन्मान्ध समुद्र पार जाना चाहे ऐसी उनकी दशा है और होती है। ऐसे अनार्य श्रमण संसार में चक्कर खाया करते हैं। [२९-३२]

(२)

और उस दृष्टान्त के सम्बन्ध में तो क्या कहूं किसी श्रद्धालु गृहस्थ के द्वारा भिक्षु के लिये बनाया हुआ भोजन फिर वह हजार हाथों से निकल कर क्यों न मिले परन्तु निषिद्ध हो तो खाने वाले को दोष तो लगेगा ही। परन्तु कितने ही श्रमण इस बात को स्वीकार नहीं करते। संसार में खतरा कहां है। इसका इनको भान नहीं है, वे तो वर्तमान सुख की लालसा के मारे हुए इस में पड़े हैं। फिर तो वे पानी के चढ़ाव के समय किनारे पर आई हुई मछली की भांति उतार आने पर जमीन पर रह जाने से नाश को प्राप्त होते हैं। [१-४]

आगे कितने ही दूसरे प्रकार के मूर्ख वादियों के सम्बन्ध में कहता हूं उसको सुन। कोई कहते हैं, देव ने इस संसार को बनाया है, कोई कहते हैं ब्रह्माने। कोई फिर ऐसा कहते हैं, जड़चेतन से परिपूर्ण तथा सुख दुःख वाले इस जगत को ईश्वरने रचा है, और कोई कहते हैं; नहीं, स्वयंभू आत्मा में से इस जगत् की उत्पत्ति हुई है। ऐसा भी कहते हैं कि मृत्यु ने अपनी मायाशक्ति से इस अशाश्वत जगत् की रचना की है। कोई ब्राह्मण और श्रमण कहते है कि इस संसार को अंडे में से उत्पन्न हुए प्रजापति ने रचा है। [५-७]

सत्य रहस्य को न समझने वाले ये वादी मिथ्या-भाषी हैं। उन्हें वास्तविक उत्पत्ति का पता नहीं है। ऐसा जानो कि यह संसार अच्छे-बुरे कर्मों का फल है। पर इस सच्चे कारण को न जाननेवाले ये वादी संसार से पार होने का मार्ग तो फिर कैसे जान सकते हैं [८-१०]

एक दूसरे मिथ्या-वाद के विषय में और कहूं। कितने ही कहते हैं कि, "शुद्ध पानी जैसे मलिन हो सकता है, वैसे ही प्रयत्नों से शुद्ध निष्पाप संयमी मुनि फिर पापयुक्त मलिन हो सकता है। तो फिर ब्रह्मचर्यादि प्रयत्नों का क्या फल रहा? और सब वादी अपने वाद का गौरव तो गाते ही हैं।" कुछ वादी सिद्धियों (अणिमा, गरिमा आदि) का गौरव करते हुए कहते हैं, "देखो, हम तो अपनी सिद्धि के बल से समाधि में और रोग रहित होकर यथेच्छ इस जगत् में उपभोग करते हैं।" [११-१५]

अपने अपने सिद्धान्त की ऐसी ऐसी मान्यता रख कर उसी में रत रहने वाले ये सब असंयमी लोग संसार के इस अनादि चक्र में गोते खाते हुए कल्पों तक अधम असुर बन कर आवेंगे। [१६]

(४)

राग-द्वेषों से पराजित ये सब वादी अपने को पंडित मानते हैं और त्यागी-सन्यासी होने पर भी सांसारिक उपदेश देते रहते हैं। ऐसे ये मन्दबुद्धि पुरुष तुम्हारा क्या भला कर सकते थे? अतएव, समझदार विद्वान् भिक्षु इन की संगति में न पड़कर निरभिमान-निरासक्त हो कर, राग द्वेषातीत ऐसा मध्यम-मार्ग ले कर मुनि-जीवन व्यतीत करें। ऐसा कहने वाले भी पड़े हैं कि परिग्रही और प्रवृत्तिमय होने पर भी मुक्त हो सकते हैं। इस को न मानकर भिक्षु को अपरिग्रही और निवृत्तिमय जीवन की शरण लेना चाहिये। विद्वान् भिक्षु को दूसरे के लिये तैयार किये हुए आहार को जो राजी से दिया जाय, भिक्षा में लेना चाहिये। रागद्वेषरहित हो, किसी का तिरस्कार न करे। कैसे कैसे लोकवाद प्रचलित है! जैसे; लोक अनन्त है, नित्य है, शाश्वत है, अपरिमित है, इत्यादि। विपरीत बुध्धि से उत्पन्न या

गतानुगतिक माने हुए यह और ऐसे सब लोकवादों सावधान होकर भिक्षु को जानना चाहिये। [१–७]

विशेष, ज्ञान मात्र का सार तो यही है कि, किसी भी जीव की हिंसा न करे। प्राणी त्रस (जंगम) या स्थावर निश्चित कारणों यह से होते हैं, जीव की दृष्टि से तो सब समान हैं। त्रस (जंगम) प्राणियों को तो देखकर ही जान सकते हैं। अपने समान किसी को भी दुःख अच्छा नहीं लगता, इसलिये किसी की हिंसा न करे। अहिंसा का सिद्धान्त तो यही है। अतएव मुमुक्षु चलने, सोने, बैठने, खाने-पीने में सतत् जागृत संयमी और निरालस रहे तथा क्रोध, मान, माया और लोभ छोड़े। इस प्रकार समिति (पांच समितियों-सम्यक् प्रवृत्तियों से युक्त-सम्यक् आचार वाला) हो; तथा कर्म आत्मा से लिप्त न हो इसके लिये अहिंसा सत्यआ पांच महाव्रतरूपी संवर (अर्थात् कर्मावरोधक छत्र) द्वारा सुरक्षित बने। ऐसा करके कर्मबन्धन के इस लोक में पवित्र भिक्षु पूर्णता प्राप्त करने तक रहे। [८–१३]

—ऐसा मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूं।

द्वितीय अध्ययन

—(०)—

कर्मनाश

(१)

श्रीसुधर्मास्वामी फिर कहने लगे—

मनुष्य-जन्म मिलना दुर्लभ है। एक बार बीती हुई पल फिर वापिस नहीं आती। मृत्यु तो बाल, यौवन या जरा किसी भी अवस्था में आ सकती है; अतएव तुम सब समय रहते शीघ्र सच्चा ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करो।

मनुष्य अपने जीवन में कामभोग तथा स्त्रीपुत्रादि के स्नेह से घिरे रहते हैं और अपने तथा अपने सम्बन्धियों के लिये अनेक अच्छे-बुरे कर्म करते रहते हैं। परन्तु देव-गांधर्व तक को, आयुष्य पूरा होने पर, न चाहते हुए भी, अपने प्रिय संयोगों और सम्बन्धों को छोड़कर अवश्य ही जाना पड़ता है; उस समय राज्य-वैभव, धन-संपत्ति, शास्त्रज्ञान, धर्म-ज्ञान, ब्राह्मणत्व या भिक्षुत्व किसी को अपने पाप-कर्म के फल से बचा नहीं सकते। इसलिये, समय है तबतक, इन क्षुद्र तथा दुःखरूप कामभोगों से निवृत्त होकर, सच्चा ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करो, जिससे कर्म तथा उनके कारणों का नाश करके तुम इस दुःख के चक्र से मुक्त हो सको। [१-७] इस अन्त होने वाले जीवन में मूर्ख मनुष्य ही संसार के काम-भोगों में मूर्छित रहते हैं। समझदार मनुष्य को तो शीघ्र ही इस से विरक्त होकर,

पराक्रम और पुरुषार्थ द्वारा निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग प्राप्त करना चाहिये। [१०—१२]

परन्तु, कर्म-नाश का मार्ग अति सूक्ष्म तथा दुर्गम है। अनेक मनुष्य उस ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा से सन्यासी होकर, भिक्षाचर्या स्वीकार करते हैं, नग्नावस्था में रहते हैं, और मास के अन्त में भोजन करने की कठोर तपश्चर्या करते हैं! परन्तु अपनी आन्तरिक कामनाओं को निर्मूल न कर सकने के कारण, वे कर्म-चक्र में से मुक्त होने के बदले में, उसी में कटते रहते हैं। मनुष्य पहिले ज्ञानी मनुष्यों की शरण लेकर, उनके पास से योग्य मार्ग जानकर, उनके लिये प्रयत्नवान् तथा योगयुक्त होकर आगे बढे। साधारण मार्ग पर चलने के लिये ही कितने दाव-पेंच जानने पडते हैं? तो फिर, इस कर्मनाश के दुर्गम मार्ग पर जाते हुए गोते न खाना पडे, इस के लिये प्रथम ही इस मार्ग के दर्शक मनुष्य की शरण लेनी चाहिये। जीवन के साधारण व्यवहार में अनेक कठिनाइयों को सहन करना पडता है, ऐसा ही आत्मा का हित साधने का मार्ग है इस मार्ग में अनेक कठिनाइयों का वीरतापूर्वक सामना करना पडता है। इन से घबरा जाने से तो क्या हो सकता है? उसको तो, कंडों से छवी हुई दीवाल जैसे उनके निकाल लिये जाने पर पतली हो जाती है, वैसे ही व्रत संयमादि से शरीर-मन के स्तरों के निकाल दिये जाने पर उन दोनों को कृश होते हुए देखना है। यह सब सरल नहीं हैं। जो सच्चा वैराग्यवान् तथा तीव्र मुमुक्षु है, वही तो शास्त्र में बताए हुए सन्त पुरुषों के मार्ग पर चलता है, तथा जो तपस्वी है वही धूल से भरे हुए पक्षी की भांति अपने कर्मको झटकार देता है, दूसरा कोई नहीं। [८—१, ११, १२—१५]

सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के लिये सांसारिक सम्बन्धों को त्याग करके निकले हुए भिक्षु को, सबसे पहिले अपने पूर्व-सम्बन्धियों के प्रति ममता को दूर करना पड़ता है। किसी समय वह भिक्षा के लिये अपने घर को ही आ जाता है, तब वे सब उसको चारों ओर से घेर कर विनय, आग्रह रुदन आदि द्वारा समझाने लगते हैं। वृद्ध माता-पिता उसे फटकारते हैं कि; " हमको इस प्रकार असहाय छोड़कर चले जाने के बदले, हमारा भरण पोषण कर; यह तेरा मुख्य कर्त्तव्य हैं, इसको टाल कर तू क्या पुण्य प्राप्त कर सकेगा। इसके सिवाय वे उसको एक वंश-रक्षक पुत्र उत्पन्न होने तक घर में रहने के लिये समझाते हैं; अनेक प्रकार के लालच बतलाते हैं। कई बार जबरदस्ती करते हैं। परन्तु, जिसको जीवन पर ममता नहीं होती, ऐसे भिक्षु का वे कुछ नहीं कर सकते। सम्बन्धियों में ममत्व रखनेवाले असंयमी भिक्षु तो उस समय मोह को प्राप्त हो जाते हैं, और घर वापिस लौटकर, वे धृष्टतापूर्वक दूने-दूने पाप कर्म करते हैं! अतएव बुद्धिमान भिक्षु को पहिले अपनी माया-ममता दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। इस महामार्ग में पराक्रमी पुरुष ही अन्त तक स्थिर रह सकते हैं। [१६-२२]

(२)

अपने सम्बन्धियों में ममत्व रखने के समान ही इस मार्ग में दूसरा बड़ा विघ्न 'अहंकार' है। अनेक भिक्षु अपने गोत्र आदि का अभिमान करते हैं और दूसरे का तिरस्कार करते हैं; परन्तु, सच्चा मुनि तो अपनी मुक्तावस्था तक का गर्व नहीं करता। वैसे ही, सच्चा चक्रवर्ती राजा सन्यासी बने हुए अपने एक दासानुदास का बिना संकोच के यथा योग्य सन्मान करता है। अहंकार पूर्वक दूसरे का

तिरस्कार करना पापरूप है। अतएव, मुमुक्षु किसी प्रकार का अभिमान किये बिना, अप्रमत्त होकर, साधु पुरुषों द्वारा बताए हुए संयम-धर्म में समान वृत्ति से पूर्ण शुद्ध रहे तथा प्रारम्भ में चाहे जैसी कठिनाइयाँ आ पड़े तो भी दूर का विचार करके, अपने मार्ग में अचल होकर विचरे। इस प्रकार जो सतत् संयम-धर्म का सम्पूर्ण रीति से पालन कर सकता है तथा सर्व प्रकार की आसक्ति दूर होने से जिसकी प्रज्ञा सरोवर के समान निर्मल हो गई है, ऐसा मुनि, धर्म तथा प्रवृत्तियों का अन्त प्राप्त कर सकता है और संसार के पदार्थों में ममत्व रखनेवाले तथा अपनी कामना पूर्ण न होने से शोक-ग्रस्त दूसरे संसारियों को उपदेश द्वारा मार्ग बता सकता है। संसार के समस्त प्राणियों को, सुख-दुःख में अपने समान जान कर, सर्व प्रकार की हिंसा से निवृत्त हुआ वह मुनि अपने अन्त समय के पहिले ही ज्ञान प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है।" इसलिये, संसार के पदार्थों को इस लोक में तथा परलोक में भी दुःख देनेवाले और क्षणभंगुर जान कर, घर का त्याग करके बाहर चले आओ। पदार्थों में आसक्ति तथा संसार के वन्दन-पूजन का कांटा अति सूक्ष्म है और अत्यन्त कष्ट से दूर हो सकता है। इसलिये, बुद्धिमान पुरुष संसार के संसर्ग का त्याग करके अकेले होकर मन-वचन पर अंकुश रख कर, समाधि तथा तप में पुरुषार्थी बने। [१-१२]

परन्तु इस प्रकार सब सम्बन्धों का त्याग करके अकेला फिरना अति कठिन है। अकेले विचरने वाले भिक्षु को निर्जन स्थानों में या सूने घर में निवास करना होता है। वहां भूमि ऊंची-नीची होती है, डांस-मच्छर होते हैं- सर्पादि भयंकर प्राणियों का भी वहां वास होता है। इस पर उसको घबरा कर, दरवाजे बन्द करके या

घास बिछाकर उपाय नहीं ढूंढना चाहिये क्योंकि उसे तो इन भयों को जीतना ही है। इतना होनेपर ही वह निर्जन स्थानों में शांति से, एकाग्रतापूर्वक स्थिर होकर ध्यानादि कर सकता है अथवा सूर्यास्त के बाद जहां का तहां निवास करने का यति-धर्म पालन कर, सकता है।

जब तक वह एकान्त में निर्भयतापूर्वक नहीं रह सकता। तब तक वह आबादी या संगति में रहने का प्रयत्न करता हैं। साधु के लिये संगति के समान खतरनाक कोई वस्तु नहीं। मनुष्य उच्च चारित्र और संयम का पालन भी दूसरी रीति से करता हो पर यदि संगति के दोषों का त्याग न करे तो वह तथागत बन जाने पर भी समाधि से च्युत हो जाता है। कारण यह कि संगति कलह, आसक्ति तथा पूर्व के भोगों की स्मृति का कारण होती है। इस लिये, बुद्धिमान् भिक्षु संसारियों के संसर्ग से दूर रहे तथा जीवन को क्षणभंगुर जान कर, सर्व प्रकार से प्रमाद दूर करके, मोह-माया से रहित होकर, स्वच्छन्द रूप से अनुसरण करना छोडकर, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व सहन करके; ज्ञानी पुरुषों द्वारा बताए हुए धर्म का अनुसरण करे। [१३-२२]

ज्यादा क्या कहा जाय? चतुर जुआरी जैसे खोटे दाव (कलि, त्रेता और द्वापर के पासे) छोडकर श्रेष्ठ दाव (कृत का) लेता है, उसी प्रकार तुम भी स्त्री-संगादि ग्राम-धर्म तथा उपभुक्त विषयों की कामना छोड दो और संसार के उद्धारक संतपुरुषों के बताए हुए सर्वोत्तम धर्म-मार्ग का अनुकरण करने लगो। जो मन को दूषित करने वाले विषयों में डूबे हुए नहीं हैं, वे ही सन्त पुरुषों के मार्ग का अनुसरण करने के लिये समर्थ हैं। इस लिये, तुम मन के

मोह को दूर करके, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रमाद या शिथिलता का त्याग करके, तथा व्यर्थ की बातचीत, पूछताछ, वाचालता आदि निरर्थक प्रवृत्तियों में समय बिताना छोड़कर अपने कल्याण में तत्पर बनो। धर्म साधने की उत्कण्ठा रखो और तप आदि में प्रबल पुरुषार्थ दिखाओ। जिसने मन, वचन और काया को वश में नहीं किया, उसके लिये आत्म-कल्याण की साधना करना सरल नहीं है।

महर्षि ज्ञातपुत्र (महावीर स्वामी) आदि ने जीवों पर दया करके, जगत् के सम्पूर्ण तत्त्व जान कर जिस परम समाधि (धर्म-मार्ग) का उपदेश दिया है, वह अद्भुत है। इसलिये, सद्गुरु की आज्ञानुसार इस मार्ग के द्वारा इस संसार रूपी महा प्रवाह का अन्त करो। [२२-३२]

(३)

इसी विषय की चर्चा करते हुए श्रीसुधर्मास्वामी आगे कहने लगे—

कामों को रोग के रूप में समझकर जो स्त्रियों से अभिभूत नहीं होते हैं, उनकी गणना मुक्त पुरुषों के साथ होती है। जो काम-भोगों को जीत सकते हैं, वे ही उनसे पर वस्तु को प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु कोई विरले मनुष्य ही ऐसा कर सकते हैं। बाकी दूसरे मनुष्य तो काम भोगों में आसक्त और मूढ़ बन जाते है। यही नहीं, वे इसमें अपनी बड़ाई मानते हैं। वे तो वर्तमानकाल को ही देखते हैं, और कहते हैं कि परलोक देख कर कौन आया है? ऐसे मनुष्यों को चाहे जितना समझाया जावे पर वे विषय-सुख नहीं छोड़ सकते। कमजोर बैल को चाहे जितना मारो-पीटो पर वह तो आगे चलने के बदले पड़ जावेगा।

ऐसी दशा विषयलिप्त मनुष्यों की होती है। विषयों में सुख नहीं है, वे क्षणभंगुर हैं, यह जानने पर और साथही यह भी जानने पर कि आयुष्य भी ऐसा ही है, वे अन्त-समय तक उनसे चिपटे रहते है। और, अन्त में जाकर, उन भोगों के कारण अपने हिंसादि अनेक पापकर्मों के फल भोगने के लिये उनको आसुरी आदि नीच गति प्राप्त होती है। तब वे पछताते और विलाप करते हैं। ऐसे मनुष्यों पर दया आती है क्यों कि वे ज्ञानियों द्वारा समझाए हुए मोक्ष-मार्ग को नहीं जानते; और ससार का सत्य स्वरूप जिसने प्रयत्न करके, उसमें (संसार में) से छूटने का मार्ग बतलाया है, ऐसे मुनि के वचनों पर श्रद्धा नहीं करते। अनन्त वासनाओं से घिरे हुए वे अन्धे मनुष्य अपनी अथवा अपने ही समान दूसरे की अन्धता का ही जीवन भर अनुसरण किया करते हैं। बार बार मोह को प्राप्त होकर, संसार-चक्र में भटकते रहते हैं। [२-१२]

इस लिये, विवेकी मनुष्य, गृहस्थाश्रम में भी अपनी योग्यतानुसार अहिंसादि व्रत पालने का प्रयत्न करे। और, जिसको महापुरुषों से उपदेश सुनकर सत्य-मार्ग पर श्रद्धा हो गई है, वह तो प्रव्रज्या लेकर सत्यप्राप्ति के लिये ही सर्वतोभाव से प्रयत्नशील होकर इसी में स्थिर रहे। वह तो राग-द्वेषादि का त्याग करके, मन, वचन और काया को संयम में रखकर, निरंतर परमार्थ-प्राप्ति में ही लगा रहे। कारण कि मूर्ख मनुष्य ही सांसारिक पदार्थ और सम्बन्धियों को अपनी शरण मानकर, उसी में बंधा रहता है। वह नहीं जानता कि अन्त में तो सब को छोडकर अकेला ही जाना है तथा अपने कर्मों के कुपरिणामों को भोगते हुए, दुःख से पीडित होकर सदा इस योनि चक्र में भटकना है। अपने कर्मों को भोगे बिना कोई नहीं छूटेगा।

सब को अपने कर्मानुसार ही दशा प्राप्त होती है। इस लिये, जागृत होओ! वर्तमान-काल ही एकमात्र अवसर है। बोधि-प्राप्ति सुलभ नहीं है। इस लिये आत्म-कल्याण के लिये कमर कसो। तीनों काल के सन्त पुरुष इसी बात पर जोर देते आये हैं तथा वैशाली-निवासी ज्ञातपुत्र भगवान् महावीरने भी ऐसा ही कहा है। सर्व प्रकार से (मन-वचन-काया द्वारा करने-कराने-अनुमति देनेसे) हिंसादि पाप-कर्मों से बचो; आत्म-कल्याण में तत्पर बनो; और फल की कामना रखे बिना संयमधर्म में पूर्णता प्राप्त करो। इसी मार्ग पर चलकर अनन्त पुरुषों ने सिद्धि प्राप्त की है और दूसरे भी प्राप्त करेंगे। [१२-२२]

—ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने कहा।

तृतीय अध्ययन

—(०)—

भिक्षु-जीवन के विघ्न

(१)

श्रीसुधर्मास्वामी आगे कहने लगे

अनेक मनुष्य आवेश में आकर, कठिनाइयों का पहिले विचार न करके, भिक्षु-जीवन स्वीकार कर बैठते हैं। बाद में जब एक के बाद एक कठिनाइयाँ आती जाती हैं, तब वे हताश हो जाते हैं तथा शिथिल हो पड़ते हैं। अनेक भिक्षु हेमन्त की ठंड या ग्रीष्म की गरमी से घबरा उठते हैं, अनेक भिक्षा मांगने को जाते हुए खिन्न हो जाते हैं। गलियों में भटकने कुत्ते उनको देखकर काटने दौड़ते हैं और अनेक असंस्कारी लोग उनको चाहे जैसे शब्द सुना-सुना कर उनका तिरस्कार करते हैं। वे कहते हैं; "काम करना न पड़े इस-लिये साधु बने!" दूसरे उनको "नागे, भिखारी, अधम, मूंडिया गंदे, निकम्मे या अपशुकने" कहकर गाली देते हैं। उस समय निर्बल मन का भिक्षु शिथिल हो जाता है। जब डांस-मच्छर काटते हैं और घास की नोंकें चुभती हैं, तब तो अपने भिक्षु-जीवन की सार्थकता के विषय तक में शंका होने लगती है—'परलोक सी तो शायद कोई वस्तु ही नहीं होगी और मौत ही सबका अन्त हो तो!' दूसरे कितने ही बालों को उखाड़ने के कारण घबरा जाते हैं; अथवा ब्रह्मचर्य पालन न कर सकने से हार जाते हैं। सिवाय इसके, अनेक बार

भिक्षु फिरते-फिरते देश के सीमान्त में पहुँच जाता है वहां लोग उसे जासूस या चोर समझ कर गिरफ्तार कर लेते हैं और पीटते हैं। उस समय वह क्रोध में आकर पति को छोड कर निकली हुई स्त्री के समान घर को याद करता है। ये सब-विघ्न अति कठोर तो हैं ही पर दुःसह भी हैं पर उनसे घबरा कर भाग खडे होने के बदले धैर्यपूर्वक उनको सहन करना सीखना चाहिये।

(२)

अपने कोमल स्नेहसम्बन्ध को तोडने में भी नवीन भिक्षु को कम कठिनाई नहीं होती। उसे भिक्षा मांगने आया देखकर, उसके सम्बन्धी उसे घेर कर विलाप करने लगते हैं "हे तात! हमने पाल-पोष कर तुझे बडा किया, अब तू हमारा भरण-पोषण कर; ऐसा करने के बदले तू हमें त्याग क्यों रहा है? वृद्ध माता-पिता का भरण-पोषण तो आचार है, उसका त्याग करके तू धर्म को कैसे प्राप्त कर सकेगा? तेरे बडे-बूढे मधु भाषी हैं। तेरा पुत्र तो अभी बालक है; तेरी स्त्री भी जवान है, हो सकता है वह कुमार्ग पर चलने लगे! इस लिये हे तात! तू वापिस घर लौट चल। अब तुझे कोई काम करना नहीं पडेगा; हम सब तेरी सहायता करेंगे। तेरा ऋण (कर्ज) हम सबने आपस में बांट लिया है और व्यापार-धंधे के लिये हम तुझे फिर धन देंगे। एक बार तू फिर चल। अगर तुझे न रुचे तो तू फिर चला जाना। ऐसा करने से तेरे श्रमण-धर्म में बाधा नहीं आती।" यह सब सुनकर अपने प्रेमियों के स्नेह-सम्बन्ध में बंधा हुआ निर्बल मन का मनुष्य घर की ओर दौडने लगता है। तब तो उसके सम्बन्धी भी एक बार हाथ में आने पर उसको चारों ओर से भोग-विलास में जकड कर घंडी भर उसको नहीं छोडते।

इसके सिवाय, दूसरे अनेक प्रलोभन हैं। किसी पवित्र जीवन व्यतीत करने वाले उत्तम साधुको देखकर राजा, अमात्य तथा ब्राह्मण-क्षत्रिय उसे घेर कर उसे आदर-पूर्वक अपने यहां निमंत्रित करते हैं। वे कहते हैं; "हे महर्षि ! हमारे ये रथ-वाहन, स्त्री, अलंकार, शय्या आदि सब पदार्थ आप ही के हैं। आप कृपा करके उनको स्वीकार करें, जिससे हमारा कल्याण हो। यहां आने से आपके व्रत का भंग नहीं होता और इन पदार्थों को स्वीकार करने में आपको कोई दोष नहीं लगता क्योंकि आपने तो बडी तपश्चर्या की है। यह सब सुनकर भिक्षुजीवन तथा तपश्चर्या से ऊबे हुए निर्बल मन के भिक्षु, चढाव पर चढते हुए बूढे बैल की भांति अध-बीच में ही बैठ जाते हैं और काम भोगों से लुभाकर संसार में फिर पड जाते हैं।

(३)

कितने ही भिक्षुओं में पहिले से ही आत्मविश्वास की कमी होती है। स्त्रियों से तथा गरम (प्रासुक) पानी पीने के कठोर नियमों से वे कब हार जावेंगे इसका उनको आत्मविश्वास नहीं होता। वे पहिले से ही ऐसा मौका आ पडने पर जीवन निर्वाह में कठिनाई न हो इसके लिये वैद्यक, ज्योतिष आदि आजीविका के साधन लगा रखते हैं। ऐसे मनुष्यों से कुछ होने का नहीं क्योंकि विघ्न आवें उस समय उनका सामना करने के बदले, वे पहिले से लगा रखे हुए साधनों का आश्रय ले बैठते हैं। मुमुक्षु को तो प्राण हथेली में लेकर निःशंक होकर अचल रहते हुए अपने मार्ग पर आगे बढना चाहिये। [१-७]

भिक्षु को विभिन्न आचार-विचार के परतीर्थिक-परवादियों के आक्षेपों का भी सामना करना पडता है। ऐसे समय अपने मार्ग में दृढ निश्चय से रहित भिक्षु घबरा जाता है और शंकित बन जाता है।

परतीर्थिक द्वेष के कारण उसको नीचा दिखाने के लिये उसके आचार–विचार पर चाहे जैसे आक्षेप करते हैं। ऐसे समय बुद्धिमान् भिक्षु घबराये बिना, चित्त को शांत रखकर अनेक गुणोंसे सम्पन्न युक्ति संगत वाणी में उसका प्रतिवाद करे। अनेक परतीर्थिक जैन भिक्षुओं पर आक्षेप करते हैं कि, "तुम अपने संघ के किसी भिक्षु के बीमार पड़ने पर उसके लिये भिक्षा लाकर खिलाते हो; इस प्रकार तुम एक दूसरे में आसक्ति रखते हो तथा तुम पराधीन हो।" ऐसे समय वह उत्तर दे कि, "तुम तो उससे भी बुरा करते हो। ऐसे समय तुम तो गृहस्थियों के पास से बीमार के लिये ही भोजन तैयार कराके मँगवाते हो और उनके बर्तनों में खाते–खिलाते हो। इस प्रकार अपने लिये खास तैयार किया हुआ निषिद्ध भोजन करना अच्छा या अपने साथी द्वारा गृहस्थ से बचा–खुचा माँग कर लाया हुआ निर्दोष भोजन करना अच्छा ?" यों उनको करारा जवाब मिल जाता है, और वे आगे बोल नहीं पाते! तब वे गाली गिलौज करने लगते हैं। पर बुद्धिमान भिक्षु शान्त रहते हुए, सामने का वादी उग्र न हो उठे इस प्रकार योग्य उत्तर दे। [८–१९]

(४)

दूसरे अनेक परतीर्थिक ऐसे आक्षेप करते हैं–"बीज धान्य खाने में तथा ठंडा पानी पीने में तुमको क्या बाधा है जो तुमने इनको त्याग दिया है ? विदेह के राजा नमि तथा रामगुप्त आदि बीज–धान्यादि पदार्थ खाने पर भी सिद्धि को प्राप्त हुए। बाहुक तथा नारायण ऋषि ठंडा पानी पीते थे। और असित, देविल, द्वैपायन तथा पाराशर आदि तो ठंडा पानी, बीज–धान्य के सिवाय शाक-भाजी का भी उपयोग करते हुए भी मुक्ति को प्राप्त हुए। तब तुम इन सब पदार्थों का त्याग करके किस लिये दुःख उठाते हो ?" [१–४]

कुछ ऐसे आक्षेप करते हैं—'सुख भी क्या कभी दुःख देने वाले साधनों से प्राप्त होता होगा ? तब तुम आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति के लिये ऐसे दुःख देने वाले कठोर साधनों का आचरण क्यों करते हो ? यह तो तुम्हारा बिलकुल उल्टा ही मार्ग है !" [६-७]

ऐसे ही दूसरे कहते हैं—"स्त्रियों के साथ काम-भोग सेवन करने में क्या दोष है जो तुम उसका त्याग करते हो ? उसमें तुमको कोई पीड़ा नहीं होती और न कोई पाप ही लगता है, प्रत्युत दोनों को शांति होती है !" [८-१२]

परन्तु महाकामी नास्तिकपुरुषों के ऐसे शब्द सुनकर बुद्धिमान् भिक्षु डांवाडोल होकर अपने साधनमार्ग के विषय में अश्रद्धालु न बने। जगत् में विविध मान्यता और आचार वाले पुरुष अपने को श्रमण कहाते फिरते हैं। उनके ऐसे लुभानेवाले या आक्षेप करने वाले शब्द सुनकर भिक्षु घबरा न उठे। वर्तमान सुख में ही डूबे हुए वे मूर्ख मनुष्य नहीं जानते कि आयुष्य और जवानी तो क्षणभंगुर हैं। अन्त समय में ऐसे मनुष्य जरूर पछताते हैं। इस लिये बुद्धिमान् मनुष्य तो, समय है तब तक प्रबल पुरुषार्थ से दुस्तर काम-भोगों में से निकल कर, सन्त पुरुषों के बताए हुए मार्ग के अनुसार संसार-प्रवाह से मुक्त होने का प्रयत्न करे। जो काम-भोग तथा पूजन-सत्कार की इच्छा का त्याग कर सके हैं, वे ही इस मोक्ष-मार्ग में स्थित रह सके हैं, यह याद रहे। [१३-१७]

ऐसे अनेक अन्तर-बाह्य विघ्न और प्रलोभन मुमुक्षु के मार्ग में आते हैं। सब को प्रथम से ही समझ लेने वाले भिक्षु, उनके अचानक आ पड़ने पर भी नहीं घबराता। अनेक कच्चे भिक्षु इन विघ्नों के न आने तक तो अपने को महासूर मानते रहते हैं, पर बाद में तो

प्रथम विघ्न के आते ही फिसल पड़ते हैं, जैसे कृष्ण को न देखा था तब तक शिशुपाल अपनी वीरता का गर्व करता रहा। परन्तु जो इन विघ्नोंको पहिले से ही जान कर मौका भी पड़ने पर प्राणान्त तक उनका सामना करते हैं, वे ही पराक्रमी नाविकोंके समान इस संसाररूपी दुस्तर समुद्र को पार कर जाते हैं। [१८]

—ऐसा श्रीसुधर्मास्वामी ने कहा।

चौथा अध्ययन

—(०)—

स्त्री-प्रसंग

श्री सुधर्मास्वामी कहने लगे—

माता-पिता आदि कुटुम्बियों तथा काम भोगों का त्याग करके, आत्म-कल्याण के लिये तत्पर होकर निर्जन स्थान में रहने का संकल्प करनेवाले भिक्षु को, भिक्षा तथा उपदेश आदि के समय अनेक अच्छी बुरी स्त्रियों से प्रसंग होता है। उस समय प्रमाद से अथवा अपने में रही हुई वासना के कारण ऐसे प्रसंग बढाने वाले भिक्षु का जल्दी ही अधःपतन होता है।

कारण यह कि अनेक दुश्चरित्र स्त्रियों ऐसे समय जवान सुन्दर भिक्षु को लुभाने के अनेक प्रयत्न करती हैं। किसी बहाने से वे उसके बिलकुल पास आकर बैठती हैं और अपने सुन्दर वस्त्र तथा अंग-प्रत्यंग की ओर उसका ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न करती हैं। [१-३] वे सुन्दर वस्त्रालंकार से सुसज्जित होकर, उसके पास आकर कहती हैं; हे भिक्षु ! मैं संसार से विरक्त हो गई हूँ, इस लिये मुझे धर्मोपदेश दो। [२४] उसके बढई (सुतार) रथ के पहिये को ज्यों धीरे २ गोल बनाता है, वैसे ही वे स्त्रियां मालुम न हो सके इस प्रकार लुभाती जाती है। फिर तो वह जाल में फँसी हुई हरिनी की तरह चाहे जितना प्रयत्न करे पर उसमें से छूट नहीं सकता।

[६] परिणाम में आग के पास रखा हुआ लाख का घड़ा ज्यों पिघलकर नष्ट हो जाता है, वैसे ही वह विद्वान् भिक्षु उनके सहवास से अपने समाधि योग से भ्रष्ट हो कर नाश को प्राप्त होता है। [१६-२६]

विषमिश्रित दूध पीने वाले के समान अन्त में वह भिक्षु बहुत पछताता है। इसलिये, प्रथम से ही भिक्षु स्त्रियों के प्रसंग का त्याग करे। कोई स्त्री, भले ही वह पुत्री हो, पुत्र-वधू हो, प्रौढा हो या छोटी कुमारी हो, तो भी वह उसका संसर्ग न करे। किसी कारणवश उनके निकट प्रसंग में न आना पड़े इस लिये उनके कमरों में या घर में अकेला न जावे। [१०-१३] कारण कि स्त्री-संग किये हुए और स्त्री चरित्र के अनुभवी बुद्धिमान् पुरुष तक स्त्रियों से संसर्ग रखने के कारण थोड़े ही समय में भ्रष्ट होकर दुराचारियों की श्रेणि के बन जाते हैं। [१२-२०]

फिर तो हाथ पैर काटो चमड़ी-मांस उतार डालो, जीतेजी अग्नि में सेको, शरीर को छेद-छेद कर ऊपर तेजाब छिड़को, नाक-कान काट डालो, गरदन उड़ा दो पर वे उनका साथ नहीं छोड़ सकते। वे पर-स्त्री संग करनेवाले को होने वाले दण्ड को सुनने पर भी, तथा काम-शास्त्रों में कुटिल स्त्रियों के हावभाव और मायाचार जानने पर भी और अब नहीं करेंगे, ऐसे संकल्प करते हुए भी इस नीच कर्म को करते हैं। [२१-२४]

ऐसा भिक्षु बाहर तो सदाचार और मोक्ष मार्ग की बातें खूब जोर से किया करता है क्योंकि दुराचारी का जोर जबान में ही होता है। परन्तु उसका सच्चा स्वरूप अन्त में प्रकट हुए बिना नहीं रहता।

उस समय वह सच्ची बात स्वीकार करने के बदले, अपनी निर्दोषता की डींगे हांकता हैं और 'ऐसा नीच कर्म मैं करूं?' ऐसा कहकर, ग्लानि प्रकट करते हैं। किसी समय खुले-आम पकड़े जाने पर तो वह कहता है कि; "मैं तो कोई पाप नहीं करता था। वह तो मात्र मेरी गोद में लेट गई थी!" इस प्रकार यह मूर्ख मनुष्य अपने मान की रक्षा के लिये झूठ बोलकर दूना पाप करता है। इसलिये, पहिले से ही स्त्रियों के निकट प्रसंग में न आवे; यही बुद्धिमान् का प्रथम लक्षण है। [१७-१९, २८-२९]

(२)

एक बार ऐसे प्रसंग में आकर किसी स्त्री के प्रेम में फंसने के बाद उन भोगेच्छु भिक्षुकों की क्या दशा होती है, उसके उदाहरण के लिये मैं भिक्षु के गृहसंसार का वर्णन करता हूं, उसे तुम सुनो। यह कोई कल्पित नहीं है पर स्त्रियों में फंसे हुए अनेक भिक्षुओं ने वास्तव में किया हुआ है।

जब तक भिक्षु अपने वश में नहीं हो जाता, तब तक तो स्त्री उसके प्रति स्नेह प्रकट करती हुई कहती है कि; "हे भिक्षु, मैं तुम्हारी प्रियतमा होने पर भी यदि आप मेरे संसारी होने के कारण मुझ से सहवास न कर सकते हो तो मैं अपने बाल उखाड कर साध्वी होने के लिये तैयार हूं। पर मुझे छोड़कर कहीं चले न जाना।" पर बाद में जब भिक्षु बिलकुल वश में हो जाता है, तो वह स्त्री उसको तिरस्कार करने लगती है और अपने अच्छे-बुरे सब काम उससे कराने लगती हैं। उसे भिक्षा का अन्न नहीं भाता तो वह शाक और उसको बनाने के लिये तपेली और लकड़ी-कंडे की

व्यवस्था करने के लिये भिक्षु को कहती है। अपने जूठे बर्तन भी उससे साफ करवाती है और पैर दबवाती है। उसके लिये गंध आदि पदार्थ, अन्नवस्त्र तथा (केश-लुंचन न बन सकने के कारण) नाई की भी व्यवस्था उसी को करनी पड़ती है। [१-६]

यह तो साध्वी बनी हुई स्त्री के गृह-संसार की बात हुई। पर यदि वह भिक्षु गृहस्थी स्त्री के साथ ही बँध जाता है तो फिर उसको उस स्त्री के लिये लाने की चीजों का पार नहीं रहता। सुबह ही दाँत साफ करने के लिये मंजन, स्नान के लिये लोध्र चूर्ण या आंवले, मुँह में रगड़ने के लिये तैल, होठ पर लगाने का नंदीचूर्ण, वेणी में पहिनने के लिये लोध्रकुसुम, नाक के बाल उखाड़ने के लिये चिमटी, बाल काढ़ने के लिये कंघी, वेणी बांधने को ऊन की डोरी, तिलक निकालने की सलाई कंकू और काजल; इसके उपरान्त पहिनने के वस्त्र और आभूषण; सिवाय इसके खाने पीने की वस्तुएँ और उनके साधनोंकी व्यवस्था; घड़ा तपेला शाक-भाजी, अनाज, सुपड़ा, मूसला आदि; और सबके बाद पान-सुपारी। इसके बाद छतरी, मौजे, सुई डोरा, कपड़े धोने का सोटा तथा कपड़ों का रंग फीका पड़ने पर उनको रंगने की व्यवस्था भी करनी होती है। संगीत के लिये विणा आदि बाजों और वर्षा काल में घर, अनाज, नई रस्सी का खाट और कीचड़ में पैर खराब न हो इसके लिये पहिनने का खड़ाऊ आदि भी चाहिये ही! [७-१४]

ऐसा करते करते यदि वह गर्भिणी हो गई तो उसकी मांगों का पार नहीं रहता है। उनको भी उसे नाक में दम आने तक पूरी करनी होती हैं। दम्पती-जीवन के फलरूप में पुत्र उत्पन्न हो तब तो उस भिक्षु और लद्दु ऊंट में कुछ अन्तर नहीं रहता। उसकी

स्त्री बारबार उसका तिरस्कार करके बच्चे को बहलाने को कहती है तथा अनेक बार क्रोधित होकर उसे फेंक देने का कह देती है ! रात को भी उसे नींद में उठकर पुत्र को लोरी गाकर सुलाना पडता है; और शरम आने पर भी स्त्री को खुश करने के लिये, उसके कपडे धोने पडते हैं। [१९-१७]

इस प्रकार भोग के लिये स्त्रियों के वश में हुए अनेक भिक्षुओं ने किया है। इसलिये, बुद्धिमान् पुरुष स्त्रियों की आरम्भ की लुभाने वाली विनंतियों पर ध्यान देकर उसका परिचय और सहवास न बढावे। स्त्रियों के साथ के कामभोग हिंसा परिग्रहादि सब महापापों के कारण हैं; ऐसा ज्ञानी मनुष्यों ने कहा है। ये भोग नामरूप हैं और कल्याण से विमुख करने वाले हैं। इसलिये, निर्मल चित्तवाला बुद्धिमान् भिक्षु आत्मा के सिवाय सब पर पदार्थों की इच्छा का त्याग करके, मन, वचन, और कायासे सब परिषह सहन करते करते, मोक्ष प्राप्त होने तक, वीर भगवान् के बताए हुए मार्ग का अनुसरण करे। [१८ २२]

—ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने कहा।

पाँचवाँ अध्ययन

—(०)—

पाप का फल

श्री सुधर्मास्वामी ने कहा—

मैंने एक बार महर्षि केवली महावीर से पूछा था—"हे मुनि! अज्ञानियों की नरकमें कैसी दशा होती है? वहां किस प्रकार के दुःख होते हैं? इनको मैं नहीं जानता, इसलिये आप मुझे कहियेगा।" [१]

इस पर, तीव्रबुद्धि काश्यप (महावीर) ने उत्तर दिया—"सुन, पापकर्मी दीन बनकर कैसे अपार दुःख भोगते हैं, मैं कहता हूं। अपने जीव के लिये पाप-कर्म करनेवाले मंदबुद्धि निर्दय लोग, अपने सुख के कारण प्राणियों की खुले-आम हिंसा करनेवाले, उनको अनेक प्रकार से त्रास देनेवाले, चोरी करनेवाले, जरा भी संयमधर्म नहीं रखनेवाले और धृष्टतापूर्वक निरन्तर प्राणी-वध करते रहनेवाले—ऐसे ऐसे पाप-कर्मी अज्ञानी लोग नरकगामी बनते हैं। [२–५]

"नारकियों को दुःखदण्ड देने वाले देव, 'मारो, काटो, चीरो, जलाओ' ऐसी गर्जना करते रहते हैं। बेचारे नरकगामी यह सुनकर भय से हक्के-बक्के बनकर कहीं भागना चाहते हैं, पर उनको रास्ता ही नहीं मिल पाता। इस पर बेबस होकर वे दुःख ताप से दुःखी हो चीत्कार करते हुए वहीं लम्बे समय तक जलते रहते हैं। [६–७]

हे वत्स, असह्य दुःख कारक ऐसी नरक की वैतरणी नदी के विषय में तूने सुना है? शस्त्रों की धार के समान तेज पानी की इस नदी को पार करने के लिये इन नारकगामियोंको वहांके परमाधामी देव भाले और तीर घुसेड घुसेड कर धकेलते हैं; यदि कहिं बीच में आराम के लिये रुकते हैं तो वे फिर उनको शूल या त्रिशूल चुभाने लगते हैं। [८-६]

" इस नदी के समान वहां अनेक दुःख के सागर स्थान भरे पडे हैं। दुर्गन्ध, गरमी, अग्नि, अंधकार और अनेक प्रकार के शस्त्रों की मार — ऐसे दुःख पहुंचाने के साधनों से भर-पूर उन स्थानों में जीवों को दुःख दिया जाता है। वहां सदा अति दुःख की ऐसी चीत्कार होती रहती हैं, मानो किसी नगर का वध (कत्लेआम) हो रहा हो। परमाधामी देव पापियोंको उनके पापोंकी याद दिला–दिला कर मारते रहते रहते हैं। उन बेचारे जीवों को ये दुःख और मार-काट अकेले ही स्वयं सहन करना पडती हैं; वहां उन्हें कोई बचा भी तो नहीं सकता। अनेक पापों के करने वाले इन अनार्यों को, अपनी सब इष्ट और प्रिय वस्तुओं से अलग होकर, ऐसे अत्यन्त दुर्गंध पूर्ण भीड–भडक्के से खचाखच, मांस–पीप से भरे हुए उन घृणित असह्य ऐसे नरक स्थानों में बहुत समय बिताना पडता है। पूर्व भव के वैरी हों इस प्रकार वे नरक के देव क्रोध करके उन जीवों के शरीर पर शस्त्रों के वार पर वार मारते हैं। हे आयुष्मान्! ऐसा विकराल त्रास स्थान यह नरक है। पूर्व में जैसा किया हो, वैसा ही परलोक में साथ आता है। पापियों के पल्ले तो ऐसे नरक में सडना ही होता है।

" हे आयुष्मान्! बुद्धिमान् मनुष्य ऐसा जानकर समस्त विश्व में किसी की हिंसा न करे; संसार के वशीभूत न हो कर, सर्व प्रकार से परिग्रह बुद्धिका त्याग कर के, सच्चे सिद्धान्त की शरण लेकर परम बोध को प्राप्त हो । पशु, पक्षी, देव, मनुष्य--ये सब कर्म-फल के चक्र के अनुसार हैं, ऐसा जानकर, मतिमान् मनुष्य मरने तक संयमधर्म पालने का ध्यान रखे । "

—ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने कहा ।

छठा अध्ययन

—(०)—

भगवान महावीर

भगवान् महावीर स्वामी के विषय में विशेष जानने का अवसर देखकर जम्बूस्वामी ने पूछा—

हे भगवन् ! असंख्य जीवों का हित करने वाले धर्म के उपदेशक महावीर स्वामी कौन थे—कैसे थे, यह जानने की इच्छा मेरे समान ही दूसरों को भी है। इस लिये, आपने जैसा सुना हो और जाना हो, वह हम सबको कह सुनाइये।

श्री सुधर्मास्वामी कहने लगे—

वे महापुरुष सर्वदर्शी थे, केवलज्ञानी थे, दोष मात्र से रहित थे, धृतिमान् तथा स्थिर चित्त के थे। वे समस्त ग्रन्थियों को पार कर गये हैं अतएव अब उनको फिर जन्म प्राप्त नहीं होगा। घरबार का त्याग करने वाले सन्यासी और सूर्य के समान अनुत्तम तप करने वाले तपस्वी थे। [१-६]

वे प्रज्ञान में अक्षय सागर के समान थे; अगाधता और स्वच्छतामें महासागर के समान थे; तेज में देवाधिपति इन्द्र के समान और सहन करने में पृथ्वी के समान थे। वे अनुभवी थे; कुशल थे; तीव्र बुद्धिमान् थे; क्रोध, मान, माया, और लोभ आदि दोषों के

रहित थे; मुक्त थे; परिपूर्ण पराक्रमी थे; पर्वतोंमें उत्तम सुदर्शन (मेरु) के समान और आनन्द के स्थल देवभूमि के समान अनेक गुणों से सम्पन्न थे। [७–१४]

लम्बाई वाले पर्वतों में निषध के समान, घेरे वाले पर्वतोंमें रुचक के समान, [ये दोनों पर्वत जम्बुद्वीप के पार माने जाते हैं] वृक्षों में सुपर्ण देवों के क्रीडास्थान शाल्मलि वृक्ष के समान, वनों में नन्दनवन के समान, शब्दों में मेघगर्जना के समान, तारों में चन्द्रमा के समान, सुगन्धी पदार्थों में चन्दन के समान, सागरों में स्वयंभूरमण महासागर के समान, नागों में धरणेन्द्र के समान, रसों में ईख (गन्ने) के रस के समान, हाथियों में ऐरावत के समान, पशुओं में सिंह के समान, नदियों में गंगा और पक्षियों में गरुड के समान, योद्धाओं में कृष्ण के समान, पुष्पों में कमल के समान, क्षत्रियों में दंतवक्र (महाभारत के सभापर्व में वर्णित क्षत्रिय) के समान, दानों मे अभयदान और सत्य वचनों में दूसरे को पीडा न पहुंचाने वाले वचन के समान, तपों में ब्रह्मचर्य के समान, अधिक जीवित रहनेवालों में लव-सत्तम (देव जो सात लव अधिक जीवें तो मोक्ष को प्राप्त हों) के समान, सभाओंमें सुधर्म-कल्प स्वर्ग के शक्रेन्द्र की सभा के समान, तथा सब धर्मोंमें निर्वाण के समान वे ज्ञातपुत्र महामुनि महावीर सब मुनियों तथा मनुष्यों में ज्ञान, शील, और तप में सर्वोत्तम थे। [१९, १८–२४]

इस लोक तथा परलोक के सब काम-भोगों का त्याग करके, दुःखों का नाश करने के हेतु से इन्होंने अति कठोर तपस्या की थी; और स्त्री-भोग, रात्रीभोजन तथा समस्त भोग-पदार्थों का सदा के लिये

त्याग किया था। पश्चात् सर्वोत्तम शुक्ल-ध्यान प्राप्त करके वे महामुनि सिद्धि को प्राप्त हुए। अपने समय में प्रचलित क्रियावादी, अक्रियावादी, वैनयिक, और अज्ञानवादियों के सब विरोधी वादों को जानते हुए भी उन्होंने जीवन-पर्यंत संयम धर्म का पालन किया। इसके सिवाय, सब पदार्थों का स्वरूप जानकर, लोगों के कल्याण में हितकारी धर्म को दीपक की भांति प्रकट किया। तेजस्वी आग के समान वह धर्म सब कर्मों को नष्ट करने वाला है। [१५-१७-२६-२८]

शुद्ध युक्तियों से संस्थापित उस धर्म को तुम भी प्रमादरहित होकर श्रद्धापूर्वक अनुसरण करो। उस धर्म को बराबर समझकर श्रद्धापूर्वक चलने वाले पूर्ण सिद्धि को प्राप्त होते हैं अथवा देवों के अधिपति इन्द्र के समान उत्तम पद प्राप्त करते है। [२९]

सातवाँ अध्ययन

—(०)—

अधर्मियों का वर्णन

श्री सुधर्मास्वामी कहने लगे—

कितने ही मनुष्य गृहसंसार का त्याग करके सन्यासी बन जाने पर आग जलाते रहते हैं और मानते हैं कि उससे (यज्ञादि या धूनी तापने से) मोक्ष मिलेगा। परन्तु इस प्रकार तो वे अज्ञानवश भयंकर हिंसा ही करते हैं। उन्हें भान नहीं है कि अंडज, जरायुज, स्वेदज और रसज आदि त्रस (जंगम) जीवों के समान पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और तृण, वृक्ष आदि भी जीव हैं। आग सुलगाने से अग्नि, पृथ्वी तथा आस-पास के अनेक उड़ते हुए जीव नाश को प्राप्त होते हैं। लकड़ी-कंडों में रहने वाले जीव भी आग सुलगाने में मर ही जाते हैं। इस प्रकार, वे मूढ़ मनुष्य अपने सुख के लिये अनेक जीवों का नाश करके, पापकर्म बांधकर, मुक्त होने के बदले संसार को ही प्राप्त होते हैं और अनेक योनियों में स्थावर या त्रस रूप में जन्म लेकर अपने पाप-कर्मों का फल भोगते हुए, (स्वयं ने जिस प्रकार अन्य जीवों का नाश किया उसी के समान या अन्य प्रकार से) विनाश को प्राप्त होते हैं [१-८]

और भी उन लोगों की मूढ़ता को क्या कहा जाय? सुबह-शाम आग सुलगाने या धूनी तापने से यदि मोक्ष मिलता हो तो लोहार आदि तो पूरे सिद्ध ही कहे जावें! [१८]

कितने ही मूढ तो ऐसा तक कहते हैं कि,-"नमक का त्याग करने से मोक्ष मिलता है। वे नमक तो छोड़ देते हैं, पर मदिरा, मांस और लहसुन तो उड़ाया ही करते हैं! जिनकी बुद्धि इस प्रकार सर्वथा मंद हो जाती है, ऐसे ही मनुष्य अपने लिये मोक्ष से उल्टी गति को तैयार करते हैं। [१२-१३]

आगे, कितने ही ऐसा भी मानते हैं कि ठंडे पानी से (सुबहशाम नहाने-धोने से) मोक्ष मिलता है। सुबह-शाम पानी में नहाते रहने से ही यदि मोक्ष प्राप्त होता हो तो पानी में रहने वाले मच्छी आदि जीव तो तुरन्त ही मोक्ष को प्राप्त हों! पानी से पाप-कर्म धुल जाते हों तो साथ में पुण्य-कर्म भी धुल जावेंगे न? इन लोगों ने इस प्रकार के सिद्धान्त बिना विचार कर बना लिये हैं। इनके आधार पर सिद्धि तो प्राप्त होगी ही नहीं पर इससे उल्टे वे अज्ञानी अनेक प्रकार से अग्नि, जल, आदि जीवों की हिंसा करके संसार को ही प्राप्त होंगे। अपने सुख के लिये दूसरों की हिंसा करने वाला कैसे सुखी होगा? इसलिये, बुद्धिमान् मनुष्य त्रस-स्थावर प्राणियों की हिंसा से सर्व प्रकार से दूर रहे और दूसरे पापकर्मों से भी अपनी आत्मा की रक्षा करे क्यों कि किसी पाप को भी करने वाले को अन्त में रोना और झींकना पड़ता है। [१४-२०]

यह तो विधर्मियों की बात हुई। परन्तु सद्धर्म रूपी मार्ग को प्राप्त हुए अनेक जैन भिक्षुओं में से भी कोई, किसी बाहरी आचार का पालन करके दूसरी ओर अनाचार का सेवन करते हैं। वे भी अधर्मी ही हैं। उदाहरण के लिये, अनेक भिक्षुक कंद, बीज आदि सजीव आहार का त्याग कर देते हैं और निर्जीव तथा दूसरे ने अपने

लिये ही तैयार किया हुआ निर्दोष अन्न-पानी लेने का व्यवहार पालते हैं परन्तु बाद में वे ऐसी निर्दोष भिक्षा तक का संग्रह करते हैं; अथवा जहाँ स्वादु भिक्षा मिलती हो, ऐसे घर की ओर उत्साह से दौडते हैं; अथवा पेट-पूजा की लालसा से धर्मोपदेश देते हैं; अथवा अन्न के लिये अपनी या दूसरों की प्रशंसा करते हैं; अथवा दूसरों की खुशामद करते हैं। धान के लोलुप सुअर के समान अन्न लोलुप वे भिक्षु अल्प समय में ही आचार-भ्रष्ट कुशील और खाली छिलकों के समान निस्सार हो कर विनाश को प्राप्त होते हैं। सच्चा भिक्षु तो परिचित न हो ऐसे स्थान पर जाकर भिक्षा प्राप्त करने का प्रयत्न करे, और अपनी तपश्चर्या के कारण मान आदर की आकांक्षा न रखे। मुनि का आहार तो संयम की रक्षा के लिये ही होता है और इसी प्रकार निर्दोष पानी का उपयोग भी जीवित रहने को ही। कारण यह कि कैसा ही निर्दोष क्यों न हो, फिर भी पानी के उपयोग में कर्मबन्धन तो लगा ही हुआ है। तो भी, कितने ही जैन भिक्षु आचार के प्रमाण के अनुसार दूसरों का उपयोग में लिया हुआ, गरम किया हुआ, निर्जीव और निर्दोष (प्रासुक) पानी मांग ला कर बाद में उसे शरीर तथा कपड़ों की सफाई के लिये नहाने-धोने में काम लेते हैं। ऐसे भिक्षु सच्ची भिक्षुता से बहुत दूर हैं। बुद्धिमान् भिक्षु तो अपने में से सब पाप दूर होकर संयम में पूर्णता प्राप्त हो इसके लिये ही शरीर धारण किये रहता है। उसने तो सब संगों और सब प्रकार के काम भोगों की आसक्ति को

त्याग किया होता है; वह तो सब जीवों को अभयदान देने वाला और निर्मल अन्तःकरणवाला होता है; वह तो अपनी पाप वृत्तियों से संग्राम में आगे लड़नेवाले वीर की भांति युद्ध करता है और अपना पूर्ण पराक्रम दिखाता है। ऐसा करते हुए वह सब तरफ से (आंतर-बाह्य शत्रुओं से) पटिये के समान भले ही छिल जाय, या मृत्यु भी आ खड़ी हो, पर फिर भी एकबार कर्मों को बिखेर देने पर, धुरी टूटी हुई गाड़ी के समान वह तो फिर संसार की ओर नहीं बढ़ता। [२१-३०]

—ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने कहा।

आठवाँ अध्ययन

—(०)—

सच्ची वीरता

जम्बू स्वामी ने पूछा—

"हे भगवन्! वीरता तो दो प्रकार की कही जाती है। धर्म-वीर की वीरता किस में है और उसका वर्णन कैसा किया गया है; आप उसे कहिये।" [१]

श्री सुधर्मास्वामी कहने लगे—

"हे आयुष्मान्! तेरा कहना ठीक है। लोगों में इसके सम्बन्ध में दो मान्यता है। कुछ कर्म को वीर्य (वीरता) कहते हैं, जब कुछ सुव्रती मुनि अकर्म को वीर्य कहते हैं। प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म है। जो प्रवृत्तियां प्रमादयुक्त हैं यानि धर्म से विमुख हैं; वे सब कर्मरूप हैं, अतएव त्याज्य हैं। जो प्रवृत्तियां प्रमाद रहित हैं, यानि धर्म के अनुसार हैं; वे अकर्म हैं, अतएव करने के योग्य हैं।

उदाहरण के लिये, प्राणियों के नाश के लिये शस्त्रक्रिया सीखने में, कामभोगों के लिये माया आदि का आचरण करने में या संयमरहित और वैरभाव से युक्त होकर, मन, वचन और काया से इस लोक या परलोक के कर्मों को करने में—संक्षेप में जिससे अहित

हो ऐसी रागद्वेष पूर्ण प्रवृत्तियों में—दिखाया हुआ वीर्य अर्थात् पराक्रम, संसार को प्राप्त करानेवाले कर्म (बंधन) के कारण होने से त्याज्य है। [१-६]

अब, बुद्धिमान् मनुष्यों के अकर्म वीर्य को कहता हूं; उसे सुन। बुद्धिमान् मनुष्य जानते हैं कि मनुष्य ज्यों ज्यों अधिक पाप करता जाता है, त्यों त्यों चित्त की अशुभता (अशुद्धि) बढ़ती जाती है और मनुष्य अधिकाधिक वैरों में बंधाता हुआ अन्त में दुःखों को प्राप्त करता है। और स्वर्ग आदि स्थान भी नित्य नहीं हैं; कुटुम्बियों और मित्रों का सहवास भी अनित्य है। इसलिये, समझदार लोग समस्त मोह-ममत्व का त्याग करके सर्व शुभ धर्मयुक्त और श्रेष्ठ पुरुषों के बताये हुए मुक्ति के मार्ग को लेजाने वाले आर्य धर्म की शरण लेकर, पाप-कर्म का कांटा मूल से निकाल फेंकने के लिये धर्म के अनुसार प्रबल पुरुषार्थ करते हैं। कारण यह कि अपने कल्याण का जो उपाय मालुम हो, उसे बुद्धिमान् अपने जीवन में तुरन्त सीख लेते हैं। [६-१५]

ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य अपनी बुद्धि से या दूसरे के पास से धर्म का रहस्य समझ कर उसमें पूर्णरूप से प्रयत्नशील होने के लिये, घरबार छोड़कर निकल पड़ता है। कछुआ जैसे अपने अंगों को शरीर में समेट लेता है, वैसे ही वह सब पापवृत्तियों, हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों और पांचों ज्ञानेन्द्रियों सहित मन और उसके दोषों को समेट लेता है; सब प्रकार के सुखों का त्याग करता है; और कामनाओं से शांत होकर आसक्ति से रहित होकर मोक्षमार्ग में ही प्रबल पुरुषार्थ करता है। यही वीरत्व धर्मवीर का है। [१५-१८]

वह प्राणों की हिंसा नहीं करता; चोरी नहीं करता; विश्वासघात नहीं करता असत्य नहीं बोलता; धर्म का उल्लंघन मन-वचन से नहीं चाहता तथा जितेन्द्रिय होकर आत्मा की सब प्रकार से रक्षा करता हुआ विचरता है। वह क्षमावान् और निरातुर होकर सदा प्रयत्नशील रहता है, और सब प्रकार की पापवृत्तियों का त्याग करके, सहनशीलता को परमधर्म मानकर ध्यान योग को साधता हुआ मोक्ष पर्यंत विचरता है। [१६-२१;२८-६]

इस प्रकार, ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही समान वीरता को दिखाते हुए भी; अधूरे ज्ञानी और सर्वथा अज्ञानी का चाहे जितना पराक्रम हो पर वह अशुद्ध है और कर्म-बन्धन का कारण है; परन्तु ज्ञान और बोध से सहित मनुष्य का पराक्रम शुद्ध है और उसे उसका कुछ फल भोगना नहीं पड़ता।

योग्य रीति से किया हुआ तप भी, यदि कीर्ति की इच्छा से किया गया हो तो शुद्ध नहीं होता। जिस तप को दूसरे नहीं जानते, वह सच्चा तप है। [२२-२४]

—ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने कहा।

नौवां अध्ययन

—(०)—

धर्म

जम्बूस्वामी ने पूछा—

" हे भगवन् ! मतिमान् ब्राह्मण महावीर ने कैसा धर्म कहा है ? आप उसको कृपा करके हमें कहिये जिससे हम उसमें प्रयत्नशील बनें ! "

श्री सुधर्मास्वामी ने कहा—

" जिनेश्वर ने जिस सीधे सच्चे मार्ग का उपदेश दिया है, उसे मैं तुम्हें कह सुनाता हूं। तुम उसे सुनो। उस धर्म को जानने और पालने का अधिकार किसे है, वह मैं पहिले कहता हूं। जो मनुष्य अपने में विवेक प्रकट होने से संसार के पदार्थों और भावों के प्रति वैराग्ययुक्त होगया है, और जो मनुष्य आसक्तिपूर्वक होनेवाली प्रवृत्तियों के द्वारा बंधनेवाले रागद्वेष तथा पुष्ट होनेवाले कामों और उनके दुःखरूपी फलों को जानता है, वही इस मार्ग का अधिकारी है। वह जानता है कि मनुष्य जिन पदार्थों के लिये विविध प्रवृत्तियाँ करता है, वे सब पदार्थ मृत्यु के बाद कुटुम्बियों के हाथ में चले जाते हैं, और उसे तो मात्र अपने कर्मों को ही भुगतना रह जाता है। उस समय जिनके लिये उसने सब प्रवृत्तियां की थीं,

वे सब – माता-पिता, भाई पत्नी, पुत्र, और पुत्र-वधु—रक्षा करने नहीं आते। ऐसा समझ कर वह ममता को छोड़ कर जिन भगवान् के परम मार्ग को स्वीकार करता है। मनुष्य के विवेक और वैराग्य की सच्ची परीक्षा तो इसी में है कि वह प्राप्त हुए कामभोगों के प्रति आकर्षित न हो। ऐसा विवेक और वैराग्य उत्पन्न होने के बाद वह अधिकारी मनुष्य धन-सम्पत्ति, पुत्र, कुटुम्बी, ममता और शोक का त्याग करके संसार से अलग (निरपेक्ष) होकर सन्यासी बने। [1-7, 22]

बाद में, उस मुमुक्षु को तेज प्रज्ञावान्, पूर्ण तपस्वी, पराक्रमी, आत्मज्ञान के इच्छुक, धृतिमान्, तथा जितेन्द्रिय सद्गुरु की शरण प्राप्त करना चाहिये क्योंकि ज्ञानप्रकाश प्राप्त करने के लिये गृहसंसार का त्याग करनेवाले उत्तम सत्पुरुष ही मुमुक्षु मनुष्यों की परम शरण हैं। वे सब बन्धनों से मुक्त होने के कारण जीवन की तथा विषयों की आकांक्षा और सब प्रकार की पाप प्रवृत्तियों से रहित होते हैं। ऐसे सद्गुरु की शरण लेकर वह निर्ग्रन्थ महामुनि महावीर के बताए हुए मार्ग में पुरुषार्थ करे। [22-24]

पृथ्वी (जल) अग्नि, वायु, वनस्पति; अंडज, पोतज, जरायु, रसज स्वेदज और उद्भिज इस प्रकार जीवों के छः भेद हैं। उनको जानकर विद्वान् मनुष्य मन वचन और काया से उनकी हिंसा और अपने सुख के लिये उनके परिग्रह का त्याग करे। उसी प्रकार उसे झूठ, मैथुन और चोरी को भी महापाप समझकर छोड़ देना चाहिये। क्रोध, मान, माया लोभ और भी जगत् में कर्म-बन्ध के कारण है; इनका भी त्याग ऐसा जानकर करे। [8-11]

टिप्पणी-१ पहिले पांच प्रकार के स्थावर जीव और पिछले के त्रस के भेद एक में, यों छे भेद। अंडज-अंडे में जन्म लेने वाले; पोतज-बच्चे के रूप में जन्म लेने वाले जैसे हाथी। जरायुज-खोल में लपटे हुए जन्म लेने वाले जैसे गाय। रसज-दही आदि रस वाले पदार्थों में पैदा होने वाले जीव। स्वेदज-पसीने से पैदा होनेवाले जैसे जूं। उद्भिज्ज-साधारणतः इससे जमीन फोडकर पैदा होने वाले वृक्षादि (वनस्पति) का अर्थ लिया जाता है पर कोई आचार्य 'कुछ फोडकर निकलने वाले जीव' जैसे मेंढक आदि का अर्थ करते हैं।

टिप्पणी-२ सूत्रकृतांग में स्थान स्थान पर आता है कि "भगवान् ने पृथ्वी आदि जीवों के छः प्रकार को कर्म-बंधन का निमित्त कहा है।" पुनरावृत्ति से बचने के लिये अनुवाद में इस स्थान पर इसको संक्षिप्त कर लिया है अथवा कहीं २ छोड भी दिया है। फिर भी एक जगह इसका स्पष्टीकरण कर देना जरूरी है। पृथ्वी आदि छः प्रकार के जीवों का कर्म-बन्धन का निमित्त होना, उनके प्रति किसी प्रकार का द्रोह अथवा हिंसा करना है; कोई भी पाप किसी प्राणी के प्रति ही होता है। मतलब यह कि यों प्राणी प्रत्येक पाप कर्म में निमित्तरूप होते हैं; इसी लिये जैन धर्म के अहिंसा-व्रत में ही सब पाप-कर्मों का त्याग समा जाता है। सब प्रकार के पाप-कर्मों का त्याग किये बिना अहिंसा का पूर्ण रीति से पालन होना सम्भव नहीं है। अतएव, अहिंसा ही एक मात्र धर्म है। सूत्र में सब जगह ही सम्पूर्ण समाधि, मोक्षमार्ग अथवा धर्म के लिये अहिंसा को ही प्रमुखता दी गई है।

वह शरीर के समस्त संस्कारों—यथा, बस्ती कर्म, विरेचन, वमन, अंजन, गंध, माल्य, स्नान, दंत-प्रक्षालन, धोना-रंगना आदि—को संयम का विरोधी जान कर त्याग दे। ये परिग्रह और काम-वासना के कारण हैं। उसी प्रकार, जूते, छतरी, खाट, पलंग, चंवर आदि भी त्याग दे। और निर्जीव तथा साफ किये हुए निर्दोष पानी से भी अंगों को न धोवे। [१२-३; १८-१]

आहार में पूर्ण संयम रखे। उसके लिये गृहस्थ ने तैयार किया हुआ, खरीदा हुआ, माँग कर लाया हुआ, जहाँ वह रहता हो वहाँ गृहस्थ से आया हो ऐसा अथवा इन प्रकारों से मिला हुआ भोजन स्वीकार न करे। मादक आहार का सर्वथा त्याग कर दे। जितने से जीवन रह सके उतना ही अन्न-जल माँग लावे। ज्यादा ले आवे और फिर दूसरे को देना पड़े ऐसा न करे। [१४-५, २३]

चारित्रवान् भिक्षु किसी का संग न करे क्योंकि इसमें खतरे छुपे रहते हैं, इसलिये विद्वान् इससे सचेत रहे। वह संसारियों के साथ मंत्रणा, उनके कामों की प्रशंसा, उनकी सांसारिक समस्याओं में सलाह, उनके घर बैठकर या उनके बर्तन में खान-पान, उनके कपड़े पहिनना, उनके घर में बैठकर उनके समाचार पूछना, उनकी ओर से यश-कीर्ति, प्रशंसा, वन्दन-पूजन की कामना, उनके घर में अकारण ही सो जाना, गांव के लड़कों के खेल में शामिल होना, और मर्यादा छोड़कर हंसना-इन सब का त्याग कर दे क्योंकि इनमें से अनेक अनर्थों की परम्परा जन्म लेती है। [१६-८;२०-२;२८-१]

उसे अनर्थकारक प्रवृत्तियां नहीं करनी चाहियेः जैसे —जुआ खेलना न सीखे, कलह न करे; पहिले की की हुई क्रीड़ाओं

को याद न करे; धर्म से निषिद्ध कोई बात न कहे; बोलने लगे तो लगातार बोलता ही न रहे; किसी का हृदय दुःखी हो ऐसा वचन कहने की इच्छा न करे; दूसरे ठगे जावें ऐसा कुछ न कहे; उसे तो विचार करके ही बोलने की आदत डालनी चाहिये। उसे आधी सच्ची आधी झूठी (सत्यासत्य) भाषा को त्याग देना चाहिये और दूसरों की गुप्त बात नहीं कहना चाहिये। किसी को 'ऐ' 'रे' आदि कहकर न पुकारे; 'यार' 'दोस्त' या गोत्रका नाम लेकर न पुकारे; ऐसे काम कभी न करे। [१७; २१; २४–७]

इस प्रकार निरर्थक प्रवृत्ति में पड़े बिना, और उसी प्रकार सुन्दर पदार्थों की इच्छा रखे बिना, प्रयत्नशील रहकर बिना प्रमाद के विचरे और ऐसा करने में जो भी दुःख आवें, सहन करे। कोई मारे तो क्रोध न करे; गालियां दे तो नाराज न हो परन्तु प्रसन्न रहते हुए सब सहन करके शांति धारण करे। [३०–१]

—ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने कहा।

दसवां अध्ययन

—(०)—

समाधि

श्री सुधर्मास्वामी कहने लगे—

मैं जिस मोक्षमार्ग को तुम्हें कह सुनाता हूँ; उसका उपदेश मतिमान महावीर ने धर्म का साक्षात्कार करने के बाद दिया है। वह मार्ग सीधा और अमोघ है। उसे स्वीकार करने वाला भिक्षु चित्त की सारी चंचलता दूर करके, सब संकल्पों से रहित हो कर, किसी भी प्राणी के दुःख का कारण बने बिना विचरे। एक बार सन्यास ले चुकने के बाद उसे दीन और खिन्न नहीं होना चाहिये; जो भोगों के सम्बन्ध में दीन वृत्ति के हैं, वे पाप-कर्म करते रहते हैं। इसी कारण जिनेश्वरों ने चित्त की सर्वथा शुद्धि और एकाग्रता प्राप्त करने का उपदेश दिया है। इस लिये, मनुष्य जागृत रहे, एकाग्र रहे, विवेक-विचार से प्रीति करे और स्थिरचित्त वाला बने। [१-३; ६-७]

देखो तो, स्त्रियों में आसक्त हुए अनेक प्राणी और सत्त्व, दुःख से पीड़ित होकर कितना परिताप उठाते हैं। स्त्रियों में विशेष प्रसंग रखने वाला अज्ञानी पापकर्म के चक्र में फंसता है। वह स्वयं जीव हिंसा करके पाप करता है, यही नहीं, बल्कि दूसरे के पास करवाता है। वह अज्ञानी भिक्षु फिर तो धन सम्पत्ति का संचय करने

लगता है और कामना से उत्पन्न गड्ढे में फँसता जाता है, पापकर्म इकट्ठा करता जाता है। इससे परिणाम में वह दुस्तर नरक को प्राप्त करता है। इस लिये बुद्धिमान् भिक्षु धर्म को अच्छी तरह समझ कर, सब ओर से निःसंग होकर, कहीं भी आसक्त हुए बिना विचरे और सब प्रकार की लालसा का त्याग करके, सब जीवों के प्रति समभाव-पूर्ण दृष्टि रखकर किसी का प्रिय या अप्रिय करने की इच्छा न रखे। [४-२; ७-१०]

वह निषिद्ध अन्न की कदापि इच्छा न करे और ऐसा करने वाले की संगति तक न करे। अपने अन्तर का विकास चाहने वाला वह भिक्षु किसी वस्तु की आकांक्षा रखे बिना तथा जरा भी खिन्न हुए बिना, बाह्य शरीर को जीर्ण-शीर्ण होने दे पर जीवन की इच्छा रखकर पापकर्म न करे। वह सदा अपनी असहाय दशा का विचार करता रहे; इसी भावना में उसकी मुक्ति है।

यह मुक्ति कोई मिथ्या वस्तु नहीं है, पर सर्वोत्तम वस्तु है। किन्तु चाहे जो उसको प्राप्त नहीं कर सकता। स्त्री संभोग से निवृत्त हुआ, अपरिग्रही, तथा छोटे-बड़े विषय असत्य, चौर्य आदि पापों से रक्षा करने वाला भिक्षु ही मोक्ष के कारण समाधि को निःसंशय प्राप्त करता है। इसलिये, भिक्षु प्रीति और अप्रीति पर विजय प्राप्त करे; घास, ठंड, गरमी, दंश (कीड़ों का काटना) आदि शारीरिक कष्टों से डरे बिना, मन, वचन और काया को (पाप कर्मों से) सुरक्षित रख कर समाधि युक्त बने; और इस प्रकार निर्मलचित्त वाला होकर मौका आने पर अपना पालन किया हुआ उत्तम धर्म दूसरों को भलीभांति समझाता हुआ विचरे। [११-१२]

संसार में नाना प्रकार की मान्यता को मानने वाले लोग विचरते हैं, उनमें से अनेक निष्क्रिय आत्मा, क्रियावाद या अक्रियावाद की चर्चा करते हैं और मोक्ष का भी उपदेश देते हैं। परन्तु वे मोक्ष के साधन धर्म को नहीं जानते। वे तो मानो अजर-अमर ही हों इस प्रकार अज्ञान और मूढ़ता पूर्वक पाप से जरा भी डरे बिना, कुटुम्बियों तथा धनादि के मोह में बंधे रहते हैं और रातदिन दूसरों के शरीर को कष्ट हो ऐसी प्रवृत्तियाँ असंयम से करते रहते हैं। परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य तो सद्धर्म को समझ कर, वन के प्राणी ज्यों सिंह से दूर रहते हैं, वैसे पाप से दूर रहे। कारण यह कि समस्त पाप की प्रवृत्तियों में हिंसा अनिवार्य है। और हिंसा में वैर बढ़ाने वाले, महापाप के कारण पापकर्मों का निश्चय ही बंध होता है, जिसके परिणाम में मनुष्य की दुःख से मुक्ति नहीं होती। इस लिये, भिक्षु जीवन या मरण की चिन्ता किये बिना, किसी फल की इच्छा रक्खे बिना तथा शरीर की ममता छोड़ कर, मतिमान ब्राह्मण (पवित्र और ज्ञानी का तात्पर्य है) महावीर के बताए हुए मार्ग पर निष्कपटता से चलकर, इस पापचक्ररूप दुस्तर संसार को पार करने का प्रयत्न करे। [१६-२४]

—ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने कहा।

ग्यारहवाँ अध्ययन

—(०)—

मोक्ष मार्ग

श्री जम्बू स्वामी ने पूछा—

हे महामुनि! सब दुःखों से मुक्ति देने वाला, भगवान् महावीर का बताया हुआ उत्तम मार्ग आप जैसा जानते हैं, हमें कह सुनावें।

श्री सुधर्मास्वामी कहने लगे—

काश्यप ऋषि (महावीर) का बताया हुआ वह महा विकट मार्ग मैंने जैसा सुना है, वैसा ही क्रमशः कह सुनाता हूँ। उसके अनुसार चलकर अनेक मनुष्य, दुस्तर समुद्रों को ज्यों व्यापारी पार कर जाते हैं, उसी प्रकार अपार संसार को पार कर गये हैं और भविष्य में भी करेंगे। [१-६]

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस; जीवों के ये छै भेद हैं। ये आपस में एक दूसरे के प्रति हिंसा परिग्रह आदि के कारण कर्मबन्धन के निमित्त बनते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य अपना उदाहरण लेकर सोचे कि मेरे समान अन्य प्राणी को भी दुःख नहीं सुहाता, इस लिये किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिये। ज्ञानी के ज्ञान का सार यही है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता। अहिंसा का सिद्धान्त भी यही है; इसी को शांति या निर्वाण कहते हैं। [७-११]

परन्तु जब तक मनुष्यों में से सब प्रकार के दोष दूर नहीं होते, तब तक वे मन, वचन और काया से सम्पूर्ण अहिंसा का पालन नहीं कर सकते। इस लिये, महाप्रज्ञ बुद्धिमान् मनुष्य जितेन्द्रिय होकर, विषय भोग से निवृत्त होवे और संयमादि में पराक्रमी होकर विचरे। वह अति क्रोध, मान, माया और लोभ से दूर रहे। संक्षेप में, वह समस्त अच्छे कार्यों का पालन करे और पापकर्म त्याग दे। वह तपाचरण में पराक्रमी बनकर निर्वाण को नक्षत्रों में चन्द्रमा के समान श्रेष्ठ मानकर उसे प्राप्त करने में पुरुषार्थ करे। सर्व प्राणियों का आधार स्थान यह जगत् है, उसी प्रकार जो बुद्ध होगये हैं और होंगे, उनका आधारस्थान निर्वाण ही है। इसलिये, इन्द्रियों का दमन करके, उस निर्वाण को ही प्राप्त करने में प्रयत्नशील बने। [१२, १३–६, २२]

महाप्रज्ञावान् बुद्धिमान् भिक्षु जो कुछ भिक्षा मिले, उसी से अपना निर्वाह करे और निषिद्ध अन्न का त्याग करे। प्राणियों की हिंसा करके अथवा उसके ही लिये तैयार किया हुआ भोजन वह स्वीकार न करे। इस प्रकार मिश्रित अन्न अथवा जिसके विषय में शंका हो, ऐसा भिक्षान्न वह न ले। कोई हिंसा करता हो तो उसे किसी प्रकार भी अनुमति न दे। गांव और नगर में विचरते हुए अनेक ऐसे मौके आ जाते हैं। गांवों में अनेक लोग दान देने के लिये सावद्य-अग्रहणीय भोजन तैयार कर लेते हैं, अब यदि भिक्षु इसकी प्रशंसा करे तो ऐसे कार्य को उत्तेजन मिलता है; और यदि इसका विरोध करे तो किसी के पेट पर लात पड़ती है। इसलिये, कुछ भी किये बिना, वह तो अपनी इन्द्रियों का दमन करता हुआ विचरे। [१३–२१]

इस प्रकार, जो भिक्षु अपनी आत्मा की (पाप प्रवृत्ति से) रक्षा करने में तत्पर हो, सदा इन्द्रिय निग्रही हो, संसार भ्रमण के प्रवाह

को जिसने यथाशक्ति रोक दिया हो, सर्वथा पाप रहित हो वही शुद्ध परिपूर्ण और उत्तम धर्म का उपदेश दे सकता है। वही भिक्षु संसार प्रवाह में फँसे हुए और अपने कार्यों से दुःखी प्राणियों को जगत के निर्दिष्ट स्थान निर्वाणद्वीप को बता सकता है [२३–४]

इस को न जानने वाले और स्वयं अज्ञानी होने पर भी अपने को ज्ञानी मानने वाले और लोगों को ऐसा प्रकट करने वाले मनुष्य समाधि को प्राप्त नहीं कर सकते। वे चाहे जैसा निषिद्ध अन्न स्वीकार कर लेते हैं और फिर ध्यान करते बैठते हैं। किन्तु इन मिथ्यामति अनार्य श्रमणों का ध्यान बुगला आदि की भांति विषय–प्राप्ति के लिये ही होता है, अतएव वह पाप–पूर्ण और अधम होता है। ऐसे अनुभवहीन लोग समाधि को प्राप्त नहीं कर सकते। शुद्ध मार्ग का उल्लंघन करके, उन्मार्ग पर चलने वाले वे लोग दुःख और विनाश को ही प्राप्त होते हैं। फूटी नाव में बैठ कर पार जाने के इच्छुक जन्म से अन्धे मनुष्य के समान वे अध बीच में ही संसार प्रवाह में पड़कर नाश को प्राप्त होते हैं। [२५–३१]

परन्तु, काश्यप (महावीर) के उपदेश दिये हुए इस धर्म की शरण लेकर मतिमान भिक्षु संसार के महा प्रवाह को पार कर जाता है। वह तो अपनी आत्मा की रक्षा करता हुआ, छोटे-बड़े विघ्नों के सामने मेरू के समान अकम्पित रहता हुआ, और मृत्यु की प्रतीक्षा करता हुआ आनन्द से विचरता है। [३२, ३७, ३८]

—ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने कहा।

बाहरवाँ अध्ययन

—(०)—

वादियों की चर्चा

श्री सुधर्मास्वामी कहने लगे—

हे आयुष्मान्! अब मैं लोगों में प्रचलित वादों के सम्बन्ध में कहता हूं, उसे सुन। इन सब के मुख्य चार भाग हो सकते हैं— (१) क्रियावाद (२) अक्रियावाद (३) विनयवाद, और (४) अज्ञातवाद। [१]

(अज्ञानवादी कहते हैं कि परलोक-स्वर्ग और नरक तथा अच्छे बुरे कर्मों के फल आदि के विषय में हम कुछ नहीं जान सकते; उनका अस्तित्व है, यह नहीं कहा जा सकता; अथवा नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता) ये अज्ञानवादी तर्क-वितर्क में कुशल होते हुए की असम्बद्ध बातें कहते हैं। अपनी शंकाओं का वे पार न पा सके हैं। वे स्वयं अज्ञानी होने के कारण अज्ञानी लोगों को यों ही झूठ-मूठ समझाते रहते हैं। [२]

(विनयवादी आचार की अनेक तुच्छ और अनावश्यक बातों को ही सर्वस्व मान कर उसी में लीन रहते हैं, इसके सिवाय वे कुछ विचार ही नहीं सकते) ऐसे ये सत्य को असत्य मानने वाले और साधु को असाधु कहने वाले विनयवादी किसी के पूछने पर अपने सिद्धान्तों को सत्य बतलाने लगते हैं। [३]

(अक्रियावादी तो क्रिया या उसके फल में ही विश्वास नहीं करते और उनमें से कोई तो आत्मा को निष्क्रिय मानते हैं, कोई आत्मा को ही नहीं मानते। कुछ जगत् को मायारूप मानते हैं या ईश्वर, नियत, काल को प्राणी की क्रियाओं के लिये जिम्मेदार मानते हैं। प्राणी कुछ नहीं करता या नहीं कर सकता, ऐसा वे मानते हैं।) ये अक्रियावादी कर्म और उसके फल से डर कर कहते हैं कि क्रिया ही नहीं है। अपने सिद्धान्तों के सम्बन्ध में निश्चय न होने से वे कहते हैं कि यह तो हमें यों जान पड़ता है। पूछने पर वे निश्चित कुछ न बता कर कहते हैं कि यह तो दो पक्ष की बात है, यह तो एक पक्ष की बात है; ऐसा कहा करते हैं। कर्म तो छः इन्द्रियां करती हैं (हम नहीं करते) ऐसा कहते हैं। बेवूफ अक्रियावादी बहुत कुछ ऐसा ही (परस्पर विरुद्ध) कहते हैं।। उनके मत से तो सारा जगत ही वन्ध्य (नियत बात से नया कुछ नहीं होता) और नियत (जो कुछ होता है, उसका कुछ फल नहीं है) है। उनके मत से सूर्य का उदय या अस्त नहीं होता, चन्द्रमा बढ़ता या घटता नहीं, नदियाँ बहती नहीं और हवा चलती नहीं! आंखों वाला अन्धा दीपक के होते हुए भी कुछ नहीं देख सकता, उसी प्रकार ये बिगड़ी बुद्धि के अक्रियावादी क्रिया होते हुए भी उसको देखते नहीं हैं। [४-८]

आगे, ज्योतिष शास्त्र, स्वप्न शास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, शकुन-शास्त्र, उत्पात-शास्त्र, और अष्टांग निमित्त शास्त्र का अभ्यास करके अनेक लोग भविष्य की क्रिया और उसके फल को जान ही लेते हैं न? यदि क्रिया और उसका फल न हो तो फिर ऐसा कैसे हो सकता है? तो भी अक्रियावादी तो ऐसा ही कहेंगे कि सब शास्त्र सच्चे थोड़े ही है? वे तो स्वयं शास्त्रों को जानते ही नहीं, फिर तो उन्हें झूठ कहने में कुछ बाधा नहीं आती। [९-१०]

किन्तु, जगत् का सत्य विचार करने वाले श्रमण और ब्राह्मण ऐसे ही कहते हैं कि दुःख तो अपने किये से ही होता है, दूसरे के किये से नहीं। इसी प्रकार मोक्ष भी ज्ञान और उसके अनुसार आचरण से ही प्राप्त होता है। [११]

प्रजा को जो मनुष्य ऐसा हितकर उपदेश देते हैं, वे ही इस जगत् के चक्षुरूप नायक हैं। उन्होंने इस संसार को भी शाश्वत कहा है, जिसमें राक्षस, देव, सुर, गान्धर्व से लेकर आकाशगामी या पृथ्वी पर रहने वाले जीवों को अपने अपने कर्म के अनुसार सुख-दुख भोगते हुए जन्म-मरण प्राप्त होता रहता है। इस चक्र में से महा कष्ट से छुटकारा मिल सकता है। विषयों तथा कामभोगों में आसक्त अज्ञान प्राणी बारबार उसी को प्राप्त करते रहते हैं क्योंकि कर्म से कर्म का क्षय नहीं हो सकता। कोई विरला बुद्धिमान् मनुष्य ही अकर्म से कर्म का नाश करके इस चक्र का अन्त कर सकता है। [१२-१५]

जिसको इस चक्रमें से छूटना हो वह वैसे ही जगत् के ज्योति-स्वरूप और धर्म का साक्षात्कार करके उसे प्रकट करने वाले महात्माओं के निकट रहे क्योंकि वे ही अपने को तथा संसार को जीवों की गति (भविष्य की जन्म-स्थिति) और अगति (मुक्तावस्था) को, जन्म तथा मरण को, शाश्वत तथा अशाश्वत को और मनुष्य के पर जन्म को जानते हैं। वे आस्रव (आत्मा में कर्मों का प्रवेश) संवर, (कर्मों को आत्मा में प्रवेश होने से रोकना) और निर्जरा (कर्म-नाश) को जानते हैं। वे जगत् के अतीत, वर्तमान और अनागत के स्वरूप को यथार्थ जानते हैं; वे ही इस जगत् के नेता हैं। उनका नेता कोई नहीं है। [१६, १९-२१]

वे छोटे-बड़े सब प्राणियों को और सारे जगत् को अपने समान समझते हैं। वे स्वयं किसी की हिंसा करते नहीं और दूसरे से कराते भी नहीं है। सर्व काल में जितेन्द्रिय रहकर और मोक्षमार्ग के लिये तत्पर होकर वे वीरपद को प्राप्त किये होते हैं। इस महा गहन संसार में वे ही केवल जागृत रहते हैं। उनको शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों में राग या द्वेष नहीं होता वैसे ही जीवन या मरण की भी इच्छा नहीं होती। संयम से सुरक्षित वे मनुष्य, स्वयं ही अथवा अन्य किसी के पास से सत्य जानकर, इस संसार से मुक्त होते हैं। वे ही क्रियावाद का उपदेश देने तथा दूसरे को संसार समुद्र से बचाने में समर्थ होते हैं [१७-८; २१-२]

—ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने कहा।

तेरहवाँ अध्ययन

—(•)—

कुछ स्पष्ट बातें

श्री सुधर्मास्वामी ने कहा—

अब मैं तुमको मनुष्यों के विविध प्रकार के स्वभाव के सम्बन्ध कुछ स्पष्ट बातें कह सुनाता हूँ। रात्रि दिवस प्रयत्नशील तथागतों के पास से सद्धर्म जानते हुए भी कितने ही अधर्मी भिक्षु बताए हुए समाधि मार्ग का आचरण नहीं करते; बल्कि अपने उपदेशक को ही चाहे जैसी बातें कह सुनाते हैं; अथवा अर्थ जानने पर भी अपनी इच्छा के अनुसार अर्थ करते हैं और परमार्थ को छुपाते हैं; या अपने को शंका हो तो (दूसरे जानकार के पास से खुलासा कराने के बदले में) झूठ बोलते हैं और वैसा ही आचरण करते हैं। ऐसे मायावी दुर्जन नाश को प्राप्त होते हैं, ऐसा तुम समझ लो। [१–४]

और, कितने ही अभिमानी अपने में सच्ची शक्ति न होने पर भी व्यर्थ ही अपनी बड़ाई करते हैं और दूसरों को अपनी परछाई के समान तुच्छ समझते हैं, अथवा सन्यासी भिक्षु बन आने पर भी अपने ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्र (जो क्षत्रिय आरक्षक और उग्र दण्ड धारण करने वाले थे, वे उग्र कहाते थे) और लिच्छवी कुल का अभिमान करते हैं। ऐसे मनुष्य सन्यासी होते हुए भी गृहस्थ का

आचरण करने वाले कहे जाते हैं। उन्हें मुक्ति प्राप्त होना अशक्य है क्योंकि बहुत समय तक ज्ञान और चारित्र के आचरण के सिवाय जाति या कुल किसी को बचा नहीं सकते। [८-११]

कोई भिक्षु भले ही भाषा पर अधिकार रखने वाला प्रतिभा-वान् पंडित हो या प्रज्ञावान् विचारक हो पर यदि वह अपनी बुद्धि अथवा विभूति के कारण मद में आकर दूसरे का तिरस्कार करे तो वह प्रज्ञावान् होने पर भी समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता। इस लिये, भिक्षु प्रज्ञामद, तपोमद, गोत्रमद और धनमद को न करे। जो मद नहीं करता, वह पंडित और उत्तम सत्त्ववाला (सात्त्विक) है। गोत्र आदि मदों से पर रहने वाले महर्षि ही गोत्र से रहित परम गति को प्राप्त होते हैं। [१३-१६]

जो भिक्षु अपने सर्वस्व का त्याग करके जो कुछ रूखा सूखा आहार मिले उसी पर रहने वाला होने पर भी यदि मानप्रिय और आत्म-प्रशंसा की कामना रखनेवाला हो तो उसका सन्यास उसकी आजीविका ही है। ऐसा भिक्षु ज्ञान प्राप्त किये बिना ही बार बार इस संसार को प्राप्त करता है [१२]

कितने ही भिक्षु झगडालू, कलहप्रिय, उग्र और क्रोधी होते हैं। वे झगडों में से कभी शांति प्राप्त नहीं कर सकते। भिक्षुको तो गुरु की आज्ञानुसार चलने वाला, लज्जाशील, अपने कर्तव्य में तत्पर, निष्कपट, मधुर और मितभाषी, पुरुषार्थी, गम्भीर, सरल आचरण वाला और शान्त होना चाहिये। धर्म में स्थिर होने की इच्छा रखने वाला तो त्याज्य और पाप जनक प्रवृत्तियों से दूर ही रहता है। [५-७,११]

शांति प्रदायक कांतिपूर्ण, धर्म के रहस्य का जानकार भिक्षु तो गांव या नगर में प्रवेश करने के पश्चात्, अन्नपान की लालसा रक्खे बिना, रति-अरति दूर करके, संघ में हो अथवा अकेला हो पर कठोर संयम में स्थिर रहकर अपनी अन्तिम एकाकी असहाय अवस्था की भावना करता हुआ विचरे। वह स्वयं ही (शास्त्र से) समझ कर अथवा गुरु के पास सुनकर लोगों को हितकर उपदेश दे। परन्तु किसी के भाव को तर्क से जाने बिना ही, चाहे जैसे क्षुद्र और अश्रद्धालु मनुष्य को उपदेश न देने लगे। मनुष्य के कर्म और भाव को समझ कर उसके दुष्ट स्वभाव को दूर करने का प्रयत्न करे क्योंकि वे तो भयानक विषयों में डूबे हुए होते हैं। वह अपनी पूजा-प्रशंसा की कामना न करे और प्रिय अप्रिय की इच्छा भी न करे। इस प्रकार सब अनर्थों का त्याग करके, मन से भी आकुल अथवा क्रुद्ध न होकर सब प्राणियों के प्रति हिंसा का त्याग करके, जीवन-मरण की इच्छा न करते हुए वह संसारचक्र से मुक्त होने तक विचरे। [१८, २८-२३]

—ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने कहा।

चौदहवाँ अध्ययन

—(०)—

ज्ञान कैसे प्राप्त करे ?

श्री सुधर्मास्वामी बोले—

हे वत्स, अब मैं तुझे कहता हूँ कि ज्ञान कैसे प्राप्त करना। शास्त्रज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक कामभोगों की आसक्ति त्याग कर, प्रयत्नपूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ गुरु की आज्ञा में रहकर, प्रमादरहित होकर चारित्र की शिक्षा ले। [१]

मोक्ष के मूल कारण गुरु की संगति की शिष्य सदा इच्छा रक्खे। गुरु की संगति के बिना संसार का अन्त वह नहीं कर सकता। मुमुक्षु और बुद्धिमान् शिष्य गुरु की संगति न छोड़े क्योंकि जैसे बराबर पंख निकलने के पहिले ही घोंसले के बाहर जाने वाले पक्षी के बच्चे को गिद्ध आदि उठा ले जाते हैं, वैसे ही धर्म के सम्बन्ध में दृढ़ न हुए शिष्य को विधर्मी, गच्छ या संघ में से अलग होते ही 'वह हमारे वश में आ जायगा, ऐसा सोचकर हर लेते हैं। [२–४]

गुरु शिष्य को कठोर शब्द कहे तो भी गुरु के प्रति वह द्वेष न रक्खे। निद्रा और आलस्य त्याग कर सदा अपनी शंकाओं का समाधान करने के लिये प्रयत्नशील रहे। बड़ा अथवा छोटा, समान पद का अथवा समान अवस्था का कोई भी उसे सिखाता हो वह तो

आदरपूर्वक ही सुने-समझे। इतना ही नहीं बल्कि वह भूल करता हो तो घर की कामवाली दासी अथवा साधारण गृहस्थ भी उसको सुधारे तो क्रोध किये बिना उसके अनुसार करे क्योंकि वन में मार्ग न जानने वाले को कोई मार्ग बतला दे तो उसमें उसका कल्याण ही है। धर्म के सम्बन्ध में दृढ न हुआ शिष्य प्रारम्भ में धर्म को नहीं जान सकता परन्तु जिन भगवान् के उपदेश से समझ पड़ने के बाद सूर्योदय पर आंखों से मार्ग दिखता है, वैसे ही वह धर्म को जान सकता है। [६-१३]

योग्य समय पर शिष्य गुरु से अपनी शंकाएँ पूछे और वह जो बतलावे, उसको केवली का मार्ग जान कर अपने हृदय में स्थापित करे। इस मार्ग में पूर्ण रीति से स्थिर और अपनी तथा दूसरों की (हिंसा और पाप से) रक्षा करने वाले गुरुओं के पास ही शंकाओं का योग्य समाधान हो सकता है। ऐसे त्रिलोकदर्शी मनुष्य ही धर्म को इस प्रकार कह सकते हैं कि फिर शिष्य को शंका नहीं होती। स्थान, शयन, आसन और पराक्रम के सम्बन्ध में योग्य आचरण और शुभाशुभ में विवेकपूर्ण गुरु भी सिखाते समय प्रत्येक बात को खोल खोल कर समझावे। [१४-६४]

ऐसे गुरु के पास से इच्छित ज्ञान सीखने वाला शिष्य ही प्रतिभावान् और कुशल होता है। ऐसा शिष्य शुद्ध मार्ग को प्राप्त करके, मोक्ष की इच्छा रख कर, सब त्रसस्थावर जीवों के प्रति अप्रमादी और द्वेषरहित बनता है और तप और मौन का आचरण करता हुआ मोक्ष को प्राप्त होता है। [१७]

गुरु के पास धर्म को बराबर समझ कर, उसका रहस्य जान कर और उसको बराबर समझने के योग्य हो कर शिष्य दूसरों को उपदेश देने जावे और अच्छे-बुरे का विवेक रखकर गुरु के वचन की

मर्यादा का उल्लंघन न हो ऐसा उपदेश दे। इस मोक्षमार्ग का उपदेश कैसे दिया जाय, इसको जो जानता है, उस श्रद्धालु से सिद्धान्त को कोई हानि नहीं होती [२४-२५]

जो सत्य की चोरी नहीं करता, उसको छुपाता नहीं, अल्प अर्थ की वस्तु को महत्व नहीं बताता, तथा सूत्र या उसके अर्थ की बनावट नहीं करता, वही मनुष्य सिद्धान्त का सच्चा रक्षक है। गुरु के प्रति भक्तिपूर्ण वह शिष्य गुरु के कहे हुए विचारों को सोचकर बराबर कह सुनाता है। [२६, २३]

जो शास्त्र को योग्य रीति से समझता है, जो तपस्वी है, जो धर्म को यथाक्रम जानता है, जिसका कथन प्रामाणिक है, जो कुशल और विवेक युक्त है, वही मोक्षमार्ग का उपदेश देने के योग्य है। धर्म का साक्षात्कार करके जो उपदेश देते हैं, वे बुद्धिमान् संसार का अन्त करा सकते हैं। अपनी तथा दूसरों की मुक्ति को साधनेवाले वे कठिन प्रश्नों और शंकाओं का समाधान कर सकते हैं। [२७, १८]

ज्ञानी पुरुष ज्ञान के बदले में मान आदर या आजीविका की कामना न करे। सत्य को न छुपावे और न उसका लोप ही करे। अनर्थकारक धर्म का उपदेश न दे; झूठे सिद्धान्तों की तिरस्कारपूर्वक हंसी न करे; सत्य को भी कठोरता पूर्वक न कहे और अपनी प्रशंसा न करे। अपने को जिस बात की शंका न हो, उसके विषय में दुराग्रह न रखे और स्याद्वाद (विभज्यवाद) का अनुकरण करे। प्रज्ञावान् पुरुष समतापूर्वक प्रत्येक विषय में, यह अमुक दृष्टि से ऐसा है, और अमुक दृष्टि से ऐसा भी है,। इस प्रकार अनेकान्त वाणी बोले। [१९-२२]

अपने उपदेश को शिष्य कदाचित् उलटा समझे तो भी उसे बिना कठोर शब्द कहे शांति पूर्वक उसको फिर समझावे, परन्तु कभी भी अपशब्द कह कर उसका तिरस्कार न करे। [२३]

—ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने कहा।

पन्द्रहवाँ अध्ययन

—(०)—

उपसंहार

श्री सुधर्मास्वामी बोले —

हे आयुष्यमान्! अब तक मैंने तुझे भगवान् महावीर के उपदेश दिये हुए संयमधर्म के विषयमें कहा है। सारांशमें अब कहता हूँ कि—

भगवान् महावीर अतीत, वर्तमान् और भविष्य को जानते हैं क्योंकि उन्होंने सत्य दर्शन (और ज्ञान) के अन्तरायभूत कर्मों का अन्त कर दिया है। संशय का अन्त करने वाले भगवान् महावीरने इस अनुपम धर्म को कहा है। ऐसे उपदेशक जगह-जगह नहीं होते। उन्होंने प्रत्येक विषयमें यथार्थ उपदेश किया है। वे सदा सत्य से सम्पन्न और जीवों के प्रति मैत्रीयुक्त थे। [१–२]

जीवों के प्रति द्वेष न करना ही संयमी मनुष्यों का सच्चा धर्म है। बुद्धिमान् इस जगत् के पाप को जान कर उससे मुक्त हो जाते हैं क्योंकि वे कर्म का यथार्थ स्वरूप समझ कर नया कर्म नहीं करते और इस प्रकार उनको नया कर्म-बन्धन नहीं होता। बारह भावना के योगसे विशुद्ध हुए अन्तःकरण वाला संयमी पुरुष नाव के समान किनारे पहुँच कर सब दुःखों से मुक्त हो जाता है। [४–७]

टिप्पणी–बारह भावना—(१) अनित्य भावना—सब कुछ अनित्य है, ऐसा चिन्तन। (२) अशरण भावना—दुःख-मृत्यु से कोई नहीं बचा सकता ऐसा चिन्तन। (३) संसार भावना—अनेक योनिवाला संसार दुस्तर है ऐसा चिन्तन। (४) एकत्व भावना—कर्मों का फल अकेले को ही भोगना है, ऐसा चिन्तन। (५) अन्यत्व भावना—शरीर से आत्मा अलग-स्वतन्त्र है, कोई किसी का नहीं- ऐसा चिन्तन (६) अशुचि भावना—यह देह अपवित्र है, ऐसा चिन्तन। (७) आस्रव भावना—अपनी प्रवृत्तियों से ही कर्म अपने में प्रवेश करते हैं, ऐसा चिन्तन। (८) संवर भावना—कर्मों को रोक सकते हैं, ऐसा चिन्तन। (९) निर्जराभावना—कर्मों को तपादि से दूर कर सकते हैं, ऐसा चिन्तन। (१०) लोकभावना—देव मनुष्य, आदि गतियों में सुख नहीं है, सुख तो मात्र लोक के शिखर पर सिद्धलोक में है, ऐसा चिन्तन। (११) बोधि दुर्लभ भावना—संसारमें आत्मा को सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ है–ऐसा चिन्तन। (१२) धर्म दुर्लभ भावना—धर्म की प्राप्ति दुर्लभ है—ऐसा चिन्तन।

मनुष्य जन्म एक अनुपम अवसर हैं। मनुष्य जन्म से च्युत होने वाले को फिर सम्यग् ज्ञान होना दुर्लभ है और उसी प्रकार धर्म के रहस्य को प्राप्त करने की चित्तवृत्ति भी दुर्लभ है। हम धर्म की आराधना के लिये ही मनुष्यलोक में मनुष्यरूप हुए हैं। लोकोत्तर

धर्म पालन करनेवाला या तो कृतकृत्य हो जाता है अथवा उत्तम गति को प्राप्त करता है। इसलिये, मनुष्य देह प्राप्त करके, कर्म-नाश हो ऐसा पराक्रम प्रकट करके, इन्द्रियों के प्रवाह को रोक कर विकार रहित होने का प्रयत्न करो क्योंकि इसके बिना धर्म मार्ग में आचरण असंभव है। स्त्री आदि काम भोग को फँसाने की जाल के समान हैं जो स्त्री-सेवन नहीं करते, वे फिर संसार में मुक्त (के समान) हैं। विषयेच्छा का अन्त करने वाले पुरुष मनुष्यों के चक्षुरूप हैं, इसलिये 'अन्त' को प्राप्त करने के लिये ही प्रयत्न करो। देखो, शस्त्रों का अन्त (धार) ही काम करता है और पहिया भी अन्त (धुरी) पर ही घूमता है। बुद्धिमान्-मनुष्य वस्तुओं के अन्त (जैसे, गांव का अन्त—बाहर रहना; आहार का अन्त—रूखा-सूखा खाना; वैसे ही इच्छाओं का अन्त) को सेवन करते हैं क्योंकि उससे ही संसार का अन्त हो सकता है। [१३,-२१,-८-२२]

इस प्रकार जिसने पूर्व के कर्मों को नष्ट कर दिया है और नये नहीं बंधने दिये, वही महावीर फिर जन्म-मरण नहीं प्राप्त करता। वायु जिस प्रकार अग्नि को पार कर जाती है, उसी प्रकार वह मनोरम कामभोगों को पार कर जाता है। उसे तो फिर कोई संकल्प ही नहीं रहता, उसी प्रकार जीने-मरने की इच्छा भी नहीं रहती। अब तो वह जगत् का चक्षुरूप होता है। अपने कर्मों के कारण मोक्ष-मार्ग का वह उपदेश देता है। वह उपदेश प्राणियों की योग्यता के अनुसार भिन्न भिन्न होता है। उसको मान-आदर की चाहना नहीं होती। जो मनुष्य शुद्ध परिपूर्ण, और सर्वोत्तम धर्म का उपदेश देता हो और स्वयं धर्म का स्थान बना हो, उस प्रज्ञावान् तथागत के लिये अब दूसरा जन्म (पूर्वजन्म) ही क्यों? [८-१०-१, ११-२०]

उस उत्तम स्थान को काश्यप ने कह बताया है। उसको प्राप्त करके कितने ही निश्चिन्त हुए बुद्धिमान् मनुष्यों ने शांति प्राप्त की है। सर्व साधु पुरुषों को सम्मत ऐसा वह मोक्षमार्ग कर्मरूपी शल्य को उखाड़ फैंकता है। इस दुर्बोध मार्ग के अन्त को प्रकट करने वाले मुक्त पुरुष पहिले होगये हैं और दूसरे भी ऐसे सुन्दर आचरण वाले आगे होंगे। [२१, २४, २५]

—ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने कहा।

सोलहवाँ अध्ययन

—(०)—

गाथाएँ

श्री सुधर्मास्वामी आगे कहने लगे—

इस प्रकार जो इन्द्रियनिग्रही हो, मुमुक्षु हो, तथा शरीर पर ममता न रखने वाला हो, वही ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु, या निर्ग्रन्थ कहलाता है।

वह ब्राह्मण इस लिये कहाता है कि वह रागद्वेष, कलह, झूठी निंदा, चुगली, आक्षेप, संयम में अरति, विषयों में रति, मायाचार और झूठ आदि सब पाप कर्मों से रहित होता है; मिथ्या मान्यता के कांटे से रहित होता है; सम्यक् प्रवृत्ति से युक्त होता है; सदा यत्नशील होता है; अपने कल्याण में तत्पर होता है; कभी क्रोध अथवा अभिमान नहीं करता। [१]

वह श्रमण इस लिये कहाता है कि वह विघ्नों से नहीं हारता, और सब प्रकार की आकांक्षा से रहित होता है। वह परिग्रह, हिंसा, झूठ, मैथुन, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग तथा द्वेषरूपी पाप के कारण जिन से पाप का बन्ध होता है और जो आत्मा को दूषित करते हैं उन सब से पहिले से ही विरत होता है। [२]

वह भिक्षु इस लिये कहाता है कि वह अभिमान से रहित नम्र होता है और गुरु का आज्ञानुवर्ती होता है। वह विविध प्रकार के

कष्टों तथा विघ्नों से नहीं हारता। अध्यात्म-योग से उसने अपना अन्तःकरण शुद्ध किया होता है। वह प्रयत्नशील, स्थिर चित्त और दूसरों के दिये हुए भोजन की मर्यादा में रह कर जीवन-निर्वाह करने वाला होता है। [३]

वह निर्ग्रंथ इस लिये कहाता है कि वह अकेला (संन्यासी-त्यागी) होता है, एक को जाननेवाला (मोक्ष अथवा धर्म को) होता है, जागृत होता है, पाप कर्मों के प्रवाह को रोकनेवाला होता है। सुसंयत होता है, सम्यक् प्रवृति से युक्त होता है, आत्म-तत्त्व को समझनेवाला होता है, विद्वान् होता है, इन्द्रियों की विषयों के तरफ की प्रवृत्ति और अनुकूल-प्रतिकूल विषयों तरफ राग-द्वेष दोनों के प्रवाह को रोकनेवाला होता है, पूजा-सत्कार और लाभ की इच्छा से रहित होता है, धर्मार्थी होता है, धर्मज्ञ होता है, मोक्ष परायण होता है, तथा समतापूर्वक आचरण करनेवाला होता है।

(भगवान महावीरने कहा है।) यह सब मैं ने कहा है, वैसा ही तुम समझो क्योंकि मैं ही भय से रक्षा करनेवाला (सर्वज्ञ) हूँ।

—ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने कहा।

* सूत्रकृतांग सूत्र *

द्वितीय खण्ड

पहिला अध्ययन

—(०)—

पुंडरीक

श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी आदि को लक्ष्य करके कहने लगे—

भगवान् महावीर ने एक बार एक विचित्र दृष्टान्त कहा था; तुम उसे सुनो।

एक सरोवर पानी और कीचड़ से भरा हुआ, सफ़ेद कमल से परिपूर्ण, अति सुन्दर और मनोहर था। उसमें अनेक सुन्दर श्रेष्ठ सफेद कमल लगे हुए थे उनके बीचोबीच सरोवर के मध्य में उन सब कमलों से आकार, रंग, गंध, रस, और कोमलता में बड़ा-बड़ा और बीच में होने से परम दर्शनीय और मनोहर था। [१]

पूर्व दिशा से एक पुरुष उस सरोवर को आया; उसकी दृष्टि उस सुन्दर बड़े कमल पर गई। उसे देखकर वह कहने लगा—मैं एक जानकार, कुशल, पंडित, विवेकी, बुद्धिमान्, प्रौढ़, मार्ग पर ही चलने वाला और मार्ग तथा उसके ऊंच-नीच को जानने वाला मनुष्य हूं, इसलिये मैं कमलों में श्रेष्ठ इस कमल को ले ही आऊं।

ऐसा सोचकर वह सरोवर में उतर पड़ा। पर ज्यों ज्यों वह आगे बढ़ा त्यों त्यों पानी और कीचड़ बढ़ते गये और वह किनारे से दूर निकल गया। वह उस कमल के पास न पहुँच सका।

अब न तो वह पीछा ही लौट सकता था और न पार ही जा सकता था। इस प्रकार वह सरोवर के बीच में ही कीचड़ में फँस गया। [२]

फिर दक्षिण दिशा से एक दूसरा पुरुष आया; उसने उस कमल और उसको लेने के लिये गये हुए उस पुरुष को बीच में फँसा हुआ देखा। पर उसकी अपेक्षा अपने को अधिक जानकार और अनुभवी मानकर खुद वह उस कमल को लेने के लिये उतरा पर वह भी पहिले पुरुष की तरह बीच में ही रह गया। [३]

इसी प्रकार पश्चिम दिशा से तीसरा और उत्तर दिशा से चौथा पुरुष आया पर वे भी उनके समान बीच में ही फँसे रह गये। [४–५]

बाद में राग द्वेष से रहित, (संसार को) पार जाने की इच्छा वाला, जानकार, कुशल...ऐसा कोई भिक्षु किसी दिशा या कोने में से वहां चला आया। उसने उस कमल तथा फँसे हुए उन चारों को देखा। वह समझ गया कि चारों अपने को जानकार तथा कुशल मानकर उस कमल को लेने जाते हुए कीचड में फंसे रह गये। इस कमल को लाने के लिये इस प्रकार न जाना चाहिये। ऐसा विचार करके उसने किनारे पर से ही कहा—'हे सफेद कमल! उड़ कर यहां आ।' इस पर वह कमल उसके पास आ गिरा। [६]

इस कथा का तात्पर्य कोई साधु-साध्वी के न समझ सकने पर, भगवान् महावीर ने स्वयं ही इसका रहस्य इस प्रकार समझाया था।

इस दृष्टान्त में सरोवर तो यह संसार ही है; उसका पानी कर्म और कीचड कामभोग हैं। सब सफेद कमल जन-समुदाय और

वह श्रेष्ठ बड़ा कमल राजा, विभिन्न वादी (मत-प्रचारक) वे चार पुरुष हैं और वह भिक्षु दूसरा कोई नहीं पर सद्धर्म ही है। किनारा संघ है, भिक्षु का बुलाना धर्मोपदेश और कमल का आजाना निर्वाण-प्राप्ति है। मतलब यह कि सद्धर्म के सिवाय अन्य कोई इस संसार में मोक्ष नहीं दिखा सकता। वे सब वादी क्षुद्र ही कर्म और काम-भोगों में फंसे हुए होते हैं। वे दूसरों को निर्वाण प्राप्त करावें, उसके पहिले वे ही इस संसार में डूब मरते हैं। [७-८]

इस संसार में सब दिशाओं में अनेक मनुष्य अपने कर्मानुसार ऊंच-नीच जाति या गोत्र में कम-ज्यादा विभूति के साथ उत्पन्न होते हैं। उन सब में अधिक रूप, गुण, बल, और वैभव युक्त ऐसा एक राजा होता है, वह अपनी प्रजा के भीतरी-बाहरी शत्रुओं से उसकी रक्षा करता हुआ प्रजा का पालन करता है। (मूल में राजा को कितने ही विशेषण लगाये हैं, जैसे माता-पिता से सुपालित, मर्यादा को कायम रखने वाला और स्वयं मर्यादाशील, प्रजा का पिता, पुरोहित, सेतु और केतु, धन की प्राप्ति और उसके व्यय में कुशल, बलिष्ट, दुर्बलों का रक्षक, विरोधी और शत्रुओं का नाशक, महामारी-दुष्काल से प्रजा को भयमुक्त करनेवाला, अपनी परिषद् में इक्षु-ज्ञातृ-कौरव-उग्र आदि वंश के क्षत्रिय, ब्राह्मण सेनापतियों और मंत्रियों को रखने वाला।) उसकी सुख्याति सुनकर अनेक पंथ के श्रमण ब्राह्मण ऐसा सोचकर कि उसको अपने मत में मिला लेंगे तो सारी प्रजा अपने मत में आ जावेगी और वह उसकी सुख-सामग्री को अपने लिये मना न करेगा; वे उसके पास जाते हैं और कहते हैं कि अमुक धर्म को भलीभांति जानते हैं। हमारा धर्म इस प्रकार है—

'पैर के तले से ऊपर और सिर के बालों की जड़ से नीचे तथा चमड़ी तक जो शरीर है वही जीव है। शरीर के टिकने तक

ही जीव रहता है, और उसके नाश होते ही जीव का भी अन्त हो जाता है। फिर लोग उसको जलाने के लिये ले जाते हैं। आग से शरीर जल जाता है, हड्डे ही पड़े रह जाते हैं। उसकी अर्थी (तरगटी) और उसको उठाने वाले चार मनुष्य रह जाते हैं। इस लिये शरीर से जीव अलग नहीं है। जो लोग ऐसा कहते हैं कि जीव और शरीर अलग अलग हैं, उनसे पूछो तो कि वह जीव लम्बा है, छोटा है, तिकोना है, चौकोना है, लाल है, पीला है, सुगन्धी है, दुर्गन्धी है, कड़वा है, तीखा है, कठिन है, नरम है, भारी है, हलका है.. .? म्यान में से तलवार को बाहर खींच कर बताने के समान कोई आत्मा को शरीर से अलग निकाल कर नहीं बता सकता अथवा तिल्ली में से तेल या दही में से मक्खन के समान अलग निकाल कर नहीं बता सकता। इस लिये, हे भाइयो! यह शरीर है तभी तक जीव है। परलोक आदि कुछ नहीं है क्यों कि मरने के बाद वहां जानेवाला कोई नहीं रहता। इस लिये शरीर के रहने तक मारो, खोदो छेदो, जलाओ, पकाओ लूटो, छीनो–मन भावे वही करो–पर सुखी होओ।

इस प्रकार अनेक अविचारी मनुष्य प्रव्रज्या लेकर अपने कल्पित धर्म का उपदेश देते हैं। वे क्रिया–अक्रिया, सुकृत–दुष्कृत, कल्याण पाप, साधु–असाधु, सिद्धि–असिद्धि, नरक या अनरक कुछ भी नहीं मानते (क्योंकि मृत्यु के बाद आत्मा तो रहता ही नहीं)। वे अनेक प्रवृत्तियों से कामभोगों का सेवन करते रहते हैं। उन पर श्रद्धा रखनेवाले लोग कहते हैं, 'वाह, बहुत ठीक कहा, बिलकुल सत्य कहा। हे श्रमण, हे ब्राह्मण, हे आयुष्मान्, हम खानपान, मुखवास, मिठाई, वस्त्र-पात्र, कम्बल और रजोहरण अर्पण करके आपका सत्कार करते हैं।

इस प्रकार कितने ही (सुखोपभोग तथा) पूजन-सत्कार के लालच से उस मार्ग में चले जाते हैं और फिर दूसरों को भी फँसाते है। पहिले तो वे पापकर्म का त्याग करने के लिये घरबार, पुत्र, पशु, का त्याग करके भिक्षुक श्रमण हो जाते हैं परन्तु स्वयं इच्छाओं से पर न हो सकने से स्वयं पापकर्म करते हैं और दूसरों के पास करवाते हैं। ऐसे स्त्री आदि काम भोगों में आसक्त लम्पट लुब्ध पुरुष अपने आपको मुक्त नहीं कर सकते और न दूसरों को ही। गृहसंसार छोड़ने पर भी आर्य मार्ग न प्राप्त हो सकने से वे न तो इस तरफ़ ही आ सकते हैं और न पार ही जा सकते हैं, पर बीच में ही काम भोगों में फंस जाते हैं।

इस प्रकार, 'जो शरीर है वही जीव है' यह मानने वाले 'तज्जीवतच्छरीरवादी' का वर्णन समाप्त हुआ। [१]

अब पंचमहाभूत को मानने वाले का वर्णन करते हैं। वे भी राजा के पास आकर कहते हैं 'हे राजन्! इस लोक में पंच महाभूत ही हैं; उनके अनुसार घास के तिनके तक की सब वस्तुएँ हम घट सकते हैं। पंच महाभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश हैं। उनके मिलने से सब पदार्थ-बनते हैं। पर उन पंच महाभूतों को किसी ने नहीं बनाया, वे तो अनादि और अविनाशी हैं। वे कार्यों को उत्पन्न करते हैं पर उनके लिये पुरोहित की जरूरत नहीं रहती। वे स्वतन्त्र हैं। इनके शरीराकार इकट्ठे होने पर छठा आत्मा उत्पन्न होता है और शरीर का नाश होते ही उसका भी नाश हो जाता है। जो वस्तु होती ही नहीं, उसकी उत्पत्ति नहीं होती और होती है उसका नाश नहीं होता। सब प्राणी, सब पदार्थ, और सारा संसार पंच महाभूतोंसे बना हुआ है और ये पंच महाभूत ही तृणादि सभी

लोक प्रवृत्ति का मुख — साधन हैं। इसलिये, मनुष्य कुछ खरीदे-खरीदवावे, मारे-मरावे, पकावे-पकवावे, और खुद मनुष्य को खरीद कर पकवावे तो उसमें कुछ दोष नहीं।' इस प्रकार ये लोग भी क्रिया-अक्रिया, सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप आदि कुछ न मानने के कारण विविध प्रवृत्तियों द्वारा विविध कामभोगों को भोगते रहते हैं। वे भी न तो इस ओर आ सकते हैं और न पार ही जा सकते हैं पर बीच में ही कामभोग में फँसे रह जाते हैं। पंच महाभूतों को मानने वाले दूसरे पुरुष का वर्णन पूरा हुआ। [१०]

अब ईश्वर को ही सब का कारण मानने वाला तीसरा पुरुष आता है। वह कहता है, संसार के सब पदार्थों का आदि ईश्वर है, अन्त भी ईश्वर है। उनको ईश्वर ने बनाया है; वे ईश्वर में से उत्पन्न हुए हैं; ईश्वर के द्वारा प्रकाशित हुए हैं और उसके आश्रय पर ही रहते हैं; जैसे दुःख दर्द शरीर में उत्पन्न होता है, शरीर में रहता है। श्रमण निर्ग्रन्थ के उपदेश दिये हुए, रचे हुए, और प्रचलित बारह अंग रूपी गणि पिटक मिथ्या हैं, सत्य-यथार्थ नहीं हैं किन्तु हमारा यह सिद्धान्त सत्य और यथार्थ है। इस प्रकार सब कुछ ईश्वराधीन मानने वाले वे क्रिया – अक्रिया, सुकृत – दुष्कृत आदि कुछ मानते नहीं हैं, इस कारण वे विविध प्रवृत्तियों द्वारा विविध काम भोग भोगते रहते हैं। अपने इस मत को वे दूसरे को समझाते हैं और सब जगह प्रचार करते हैं। पर वे पक्षी जैसे पींजरे में से नहीं छूट सकता वैसे ही वे अपनी मोटी बुद्धि से पैदा होने वाले कर्म और दुःख से नहीं छूट सकते हैं और इस पार आने या उस पार पहुँचने के बजाय वे बीच में ही कामभोगों में फँस जाते हैं। इस प्रकार ईश्वर को सबका कारण मानने वाले तीसरे पुरुष का वर्णन पूरा हुआ। [११]

अब नियति को सबका कारण मानने वाला चौथा पुरुष आता है। वे कहते हैं कि "इस संसार में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं। एक क्रिया को और दूसरा अक्रिया को मानता हैं। दोनों एक ही वस्तु का कारण भिन्न भिन्न समझते हैं। उनमें जो मूर्ख होता है, वह इस कारण को समझता हैं कि मैं जो दुःख उठाता हूँ, शोक को प्राप्त होता हूँ, पिटता हूँ, और परिताप सहन करता हूँ .. यह सब मेरे किये का फल है। उसी प्रकार दूसरा भी जब दुःखी होता है और शोक को प्राप्त होता है, तो वह भी उसके किये का फल है। वह मूर्ख मनुष्य अपना तथा दूसरे के दुःख का कारण यही मानता है। परन्तु बुद्धिमान् इसका कारण यह समझता है कि मुझे जो कुछ भी दुःख और शोक प्राप्त होता है, वह मेरे कर्मों का फल नहीं; उसी प्रकार दूसरों को भी उनके दुःख और शोक का कारण उनके कर्मों का फल नहीं है; यह सब नियति होनहार के अनुसार होता रहता है। ये सब त्रसस्थावर जीव नियति के कारण ही शरीर सम्बन्ध को प्राप्त करते हैं और बाल्य-यौवन, अंधापन, लंगड़ापन, रोग शोक आदि अवस्था को भोगते हैं तथा उसी प्रकार नियति के कारण शरीर का त्याग करते हैं। वे क्रिया-अक्रिया सुकृत दुष्कृत आदि कुछ नहीं मानते। और इस कारण विविध प्रवृत्तियों से विविध कामभोगों को भोगते रहते हैं। इस कारण वे अनार्य एक पार भी पहुँचने के बदले में बीच में ही कामभोगों में डूब मरते हैं। नियति को माननेवाले चौथे पुरुष का यह वर्णन पूरा हुआ।

इस प्रकार वे अपनी बुद्धि, रुचि, तथा प्रकृति के अनुसार घरबार छोड़कर आर्य मार्ग को न प्राप्त करके बीच में ही काम भोगों में फंस जाते हैं। [१]

परन्तु संसार में कितने ही बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे भी होते हैं जो विवेक-विचार से संसार के पदार्थ और भोगों का स्वरूप जान लेते हैं। वे देखते हैं कि मनुष्य खेत, घर, धन, सम्पत्ति मणिमाणिक आदि पदार्थ तथा शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों तथा कामभोगों को अपना और अपने को उनका मानते हैं; किन्तु वास्तव में उनको अपना नहीं कहा जा सकता क्यों कि जब रोग, शोक आदि अपने न चाहने और बुरे लगने पर भी आते हैं तो कोई कामभोगों को जाकर कहने लगे कि, "कामभोगो! इस दुःखपूर्ण व्याधि को तुम ले लो क्योंकि मुझे बड़ी पीड़ा हो रही है" तो संसार के समस्त कामभोग उसके दुःख अथवा व्याधिको लेने में असमर्थ रहते हैं। फिर, कई बार मनुष्य ही कामभोगों को छोड़कर चला जाता है तो कई बार काम भोग उसको छोड़कर चले जाते हैं। इस लिये, वास्तव में प्रिय से प्रिय कामभोग भी अपना नहीं है और न हम उनके ही। तो फिर हम उनमें इतनी ममता क्यों रक्खें ? ऐसा सोचकर वे उनका त्याग कर देते हैं।

ऊपर बताये हुए पदार्थ तो बहिरंग है। इनकी अपेक्षा भी नीचे की वस्तुएँ अति निकट मानी जाती हैं, जैसे माता पिता, स्त्री, बहिन, पुत्र, पुत्रियाँ, पौत्र, पुत्रवधुएँ, मित्र, कुटुम्बी और परिचित जन। मनुष्य समझता है कि ये सम्बन्धी उसके हैं और वह उनका। परन्तु जब रोग आदि दुःख आ जाते हैं तो दूसरा कोई उसको नहीं ले सकता और न दूसरा दूसरे का किया हुआ भोग सकता है। मनुष्य अकेला जन्म लेता और अकेला मरता है-दूसरी योनियों में जाता है। प्रत्येक के रागद्वेष, ज्ञान, चिंतन और वेदना स्वतन्त्र होती है। कभी वह सम्बन्धियों को छोड़कर चला जाता है

तो कभी वे उसे छोड़कर चले जाते हैं। इसलिये, ये निकट जान पड़ने वाले सम्बन्धी भी अपने से भिन्न हैं और हम उनसे भिन्न हैं; तो फिर इनमें ममता क्यों रक्खें ? ऐसा सोचकर वे उनका त्याग कर देते हैं।

आगे नीचे की वस्तुएँ तो अपने इन सम्बन्धियों की अपेक्षा भी निकट की मानी जाती हैं, मेरा हाथ, मेरा पैर, मेरी जांघ, मेरा पेट, मेरा स्वभाव, मेरा बल, मेरा रंग, मेरी कांति आदि। मनुष्य इन सबको अपना समझकर इनके प्रति ममता रखता है किन्तु वे अवस्था के जाते ही अपने को बुरा लगने पर भी जीर्ण हो जाते हैं, संधियाँ ढीली पड़ जाती हैं, बाल सफ़ेद हो जाते हैं, चाहे जैसा सुन्दर रूपरंग और अंगों से युक्त विविध आहारादि से पुष्ट शरीर भी समय बीतने पर त्याज्य घृणाजनक हो जाता है।

ऐसा देखकर वे बुद्धिमान् मनुष्य उन सब पदार्थों की आसक्ति को छोड़ कर भिक्षाचर्या ग्रहण करते हैं। कितने ही अपने सम्बन्धी और संपत्ति धन को त्याग कर भिक्षाचर्या ग्रहण करते हैं; दूसरे कितने ही जिनके सम्बन्धी और सम्पत्ति नहीं होते, वे अपनी ममता त्याग कर भिक्षाचर्या ग्रहण करते हैं। [१३]

फिर सद्गुरु की शरण लेकर सद्धर्म का ज्ञान प्राप्त कर वह भिक्षु जानता है कि यह जगत त्रस और स्थावर में विभक्त है। इसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस छः प्रकार के समस्त जीवों के भेद अपने कर्मानुसार आ कर रहे हैं। ये छः प्रकार के जीव परस्पर आसक्ति और परिग्रह से होने वाली हिंसा आदि से कर्म बन्धन को प्राप्त होते हैं। परन्तु जैसे कोई मुझे लकड़ी आदि

से पीटे, मेरा तिरस्कार करे, या किसी तरह से कष्ट दे, मार या सिर्फ बाल ही उखाडे तो मुझे दुःख होता है, वैसे ही जीवों को दुःख होता है। इस लिये, किसी जीव की हिंसा न किसी प्राणी को मारे पीटे नहीं, कष्ट न दे, जबरदस्ती से काम न ले और कष्ट देकर उसको न पाले। जो अरिहंत पहिले गये हैं, वर्तमान में हैं अथवा भविष्य में होंगे वे सब ऐसा ही और ऐसा ही उपदेश देते हैं। यह धर्म ध्रुव है, शाश्वत है समग्र लोक का स्वरूप जानकर अनुभवी तीर्थंकरो ने कहा है।

ऐसा जानकर वह भिक्षु अहिंसा धर्म का पूर्ण पालन करने इच्छा से हिंसा, परिग्रह आदि पांच महापापों से विरक्त हो जाता त्रस-स्थावर जीवों की तीनों प्रकार से हिंसा नहीं करता और प्रकार कामभोग के पदार्थों का तीनों प्रकार से परिग्रह नहीं करत वह शब्द, रूप, गंध रस, और स्पर्श आदि विषयों की मूर्छा त्याग देता है और क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेष, कलह चुगली आदि का त्याग देता है। वह संयम में अप्रीति नहीं क कपट से असत्य नहीं बोलता, और मिथ्या सिद्धान्तों में श्रद्धा रखता। संक्षेप में वह भिक्षु संसार प्राप्ति के पाप-स्थानों से प्रकार से निवृत्त होकर विरक्त हो जाता है।

टिप्पणी-पापस्थान अठारह हैं—(१) हिंसा (२) असत्य (३) (४) मैथुन (५) परिग्रह (६) क्रोध (७) मान (८) (कपट) (९) लोभ (१०) राग (११) द्वेष (१२) (१३) अभ्याख्यान (झूठा आक्षेप) (१४) पैशुन्य (चुग (१५) रति-अरति (१६) परपरिवाद (दूसरों की निंद (१७) मायामिथ्यात्व (१८) मिथ्यादर्शनशल्य (कुगुरु, कु कुधर्म को सच्चे मानना)

वह जानता है कि जगत् में साधारणतया गृहस्थ और अनेक श्रमण ब्राह्मण हिंसापरिग्रहादि से युक्त होते हैं। वे तीनों प्रकार से प्राणियों की हिंसा और कामभोग सम्बन्धी जड़-चेतन पदार्थों के परिग्रह से निवृत्त नहीं होते; परन्तु मुझे तो अहिंसक और अपरिग्रही होना है। मेरा सन्यासी जीवन यद्यपि उन हिंसा परिग्रहादि से युक्त गृहस्थों आदि के आधार पर बीतता है पर वे पहिले भी हिंसा आदि से रहित नहीं थे, अब भी वैसे ही हैं। ऐसा सोचकर वह भिक्षु शरीर-रक्षा के योग्य ही उनका आधार लेकर अपने मार्ग में प्रयत्नशील रहता है।

भिक्षुजीवन में आहारशुद्धि ही मुख्य होती है, इसलिये वह इस विषय में बहुत सावधानी रखता है। गृहस्थों के अपने लिये ही तैयार किये हुए भोजन में से बढ़ा-घटा मांग लाकर अपना निर्वाह करता है। वह जानता है कि गृहस्थों के यहां अपने लिये अथवा अपने कुटुम्बियों के लिये भोजन तैयार करने की अथवा संग्रह कर रखने की प्रवृत्ति होती है। ऐसा दूसरे ने अपने लिये तैयार किया हुआ और उसमें से बढ़ा हुआ, देने वाले, लेने वाले और ग्रहण करने-तीनों के दोषों से रहित, पवित्र, प्रासुक (निर्जीव), हिंसा से रहित, भिक्षा मांग कर लाया हुआ, साधु जान कर दिया हुआ, अनेक स्थानों से थोड़ा थोड़ा गौचरी किया हुआ भोजन ही उस को ग्राह्य होता है। उस भोजन को वह भूख के प्रयोजन से, दीपक को तेल और फोड़े पर लेप की आवश्यकता के समान भावना रख कर संयम की रक्षा के लिये ही सांप के बिल में घुसने के समान (मुंह में स्वाद लिये बिना) खाता है। खाने के समय खाता है, पीने के समय पीता है, तथा दूसरी पहिनने सोने की सब क्रियाएं वह भिक्षु योग्य समय पर करता है।

टिप्पणी-भिक्षु को अन्नपान को प्राप्त करने में 'गवेषणा', स्वीकार करने में 'ग्रहणैषणा' और उसको भोगने में 'परिभोगैषणा' से सावधान रहना चाहिये। भिक्षा की गवेषणा में वह दाता (गृहस्थ) सम्बन्धी १६ उद्गम दोष और ग्राहक (साधु) के १६ उत्पादन दोष छोड़े। ग्रहणैषणा के दाता और ग्राहक के दस दोष छोड़े और परिभोगैषणा के दोष साधु भिक्षा भोगते समय छोड़े।

१६ उद्गमदोष—(१) आधाकर्मिक—जो भोजन गृहस्थ ने सब सम्प्रदायों के साधुओं को उद्देश्य कर बनाया हो। (२) उद्देशिक—साधु के आने पर उसके लिये ही मिश्रण कर (गुड-घी आदि से) बनाया हो। (३) पूतिकर्म—आधाकर्मिक आदि से मिश्रित। (४) मिश्रकर्म—थोड़ा अपने लिये थोड़ा साधु के लिये इस प्रकार मिश्रित पहिले से ही पकावे। (५) स्थापना कर्म—साधु आवेगा तब उसे दूँगा ऐसा सोच कर अलग रखा हुआ। (६) प्राभृतिक—संकल्प करके उपहाररूप दी हुई भिक्षा। (७) प्रादुष्करण—प्रकाश करके अंधेरे में से लाकर भिक्षा देना। (८) क्रीत—साधु के लिये खरीदी हुई। (९) प्रामित्य—उधार लाकर दी हुई। (१०) परावृत्त—अपने यहां का हल्का पड़ोसी को देकर उससे बदले में अच्छा लाकर देना। (११) अभ्याहृत—अपने घर अथवा गांव से लाकर साधु के स्थान पर लाकर देना। (१२) उद्भिन्न—कोठा कोठी में लीप कर बंद किया हुआ उखाड़ कर देना। (१३) मालाहृत—माल-मचान आदि ऊँची जगह पर रखा हुआ नसैनी आदि से उतार कर देना।

(१४) आच्छेद्य-दुर्बल अथवा नोकर के पाससे छीन-झुड़ा कर देना। (१५) अनिसृष्ट—दो तीन मालिक की वस्तु एक दूसरे से बिना पूछे देना। (१६) अध्यवपूर—पकते हुए भोजन में साधु को देख कर और डाल देना।

१६ उत्पादनदोष—(१) धात्रीकर्म—आहार प्राप्ति के लिये गृहस्थ के बालक को दाई के समान खेलावे! (२) दूत—गृहस्थ के सम्बन्धियों के समाचार ला दें। (३) निमित्त-सुख-दुःख, लाभ, हानि, का भविष्य बतावे। (४)—आजीविक—स्वयं दाता के ज्ञाति-कुल का है, ऐसा कहे। (५) वनीपक—गृहस्थ और उसकी इष्ट वस्तु की प्रशंसा करे, अपना दुःख प्रकट करे इत्यादि। (६) चिकित्सा—दवाई करे। (७) क्रोधपिण्ड—शाप आदि की धमकी दे। (८) मानपिंड—मैं ने तो तेरे यहां से आहार लेने की होड़ लगाई है ऐसा कहे। (९) मायापिण्ड—वेष आदि बदलकर आवे। (१०) लोभपिण्ड—रसयुक्त भोजन प्राप्ति का प्रयत्न करे। (११) संस्तवपिंड-आहार लेने के पहिले अथवा पीछे गृहस्थ की स्तुति करे। (१२) विद्यापिंड—विद्या के द्वारा प्राप्त करे। (१३) मंत्रपिंड—मंत्र आदि द्वारा प्राप्त करे। (१४) चूर्णयोग—वशीकरण आदि के चूर्ण सिखा कर प्राप्त करे। (१५) योग-पिंड—अदृश्य होने आदि के लिये अंजन आदि योग सिखा दे। (१६) मूलकर्म—मघा, मूल आदि नक्षत्रों की शांति के लिये मूल आदि से स्नान आदि अनुष्ठान सिखा दे।

ग्रहणैषणा के दस दोष—(१) शंकित—दाता को आहार देते सदोष-निर्दोष की शंका हो। (२) म्रक्षित—जल आदि

सचित्त पदार्थों से लगा हुआ। (३) निक्षिप्त—सचित्त पदार्थों के ऊपर अथवा बीच में रखा हुआ। (४) पिहित आहार अचित्त हो पर सचित पदार्थों से ढंका हुआ हो (अथवा इससे विपरीत)। (५) संहृत—सचित पृथ्वी आदि पर से एकट्ठा किया हुआ। (६) दायक—अयोग्य अवस्था के दाता के पास से लिया हुआ। (७) उन्मिश्रित—सचित पदार्थों से मिश्रित। (८) अपरिणत—बराबर न पका हुआ अथवा दो मालिक का होने से एक की सम्मति के विरुद्ध दिया हुआ। (९) लिप्त—दही, दूध आदि द्रव्य जिनसे हाथ, बर्तन आदि भर जावें और बाद में हाथ धोने का कर्म करना पडे। (१०) छर्दित—देते-देते ढुलता हुआ लेना।

परिभोगैषणा के चार दोष—

(१) संयोजना—दूध, शकर, घी आदि स्वाद के लिये मिला कर खाना। (२) अप्रमाण जितना आहार लेने की विधि हो उससे अधिक खाना। (३) इंगाल-धूम-अच्छा आहार देने वाले की स्तुति और बुरे आहार देनेवाले की निंदा कर के खाना। (४) अकारण-शास्त्रों में कहे हुए प्रसंगों के बाहर स्वादु आहार खाना।

फिर वह भिक्षु पहिले से ही यह इच्छा नहीं रखता कि मैं ने जो कुछ देखा है, सुना है, चिंतन किया है, जाना हैं उसके द्वारा, अथवा विधिपूर्वक किये हुए तप, नियम, ब्रह्मचर्य या संयम के निर्वाहार्थ ही जीवन व्यतीत करने से मैं इस देह को त्याग कर, सब

काम-भोग जिसके स्वाधीन हैं, ऐसा देव बनूं या सर्व प्रकार के अनिष्टों से रहित सिद्ध होऊं या इस लोक में जन्म प्राप्त करूं, न करूं।

मर्यादा का ध्यान रखने वाला वह भिक्षु घूमते-घूमते जहां जाता है, वहां स्वभावतः धर्मोपदेश करता है। कोई प्रव्रज्या लेने को तैयार हो अथवा न हो तो भी सब सुनने की इच्छा रखने वालों को शांति, वैराग्य, निर्वाण, शौच, ऋजुता, मृदुता, लघुता, तथा सब जीवों, प्राणों, भूतों और सत्वों की अहिंसा का धर्म कह सुनाता है।

टिप्पणी—यहां जीव, प्राण, भूत और सत्व समानार्थ हैं किन्तु भेद के लिये कोई २ —पंचेन्द्रिय जीवों को जीव, दो-तीन-चार इन्द्रिय जीवों को प्राण, वनस्पति के जीवों को भूत और पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि के जीवों को सत्व मानते हैं।

वह भिक्षु अन्न, पान, वस्त्र, स्थान, बिस्तर या अन्य कामभोगों के लिये धर्मोपदेश नहीं देता किंतु अपने पूर्व कर्मों के कारण बिना ग्लानि के देता है।

ऐसे गुणवान भिक्षु के पास धर्म सुनकर समझकर पराक्रमी पुरुष उस धर्म में प्रवृत्त होते हैं उसके द्वारा सर्व शुभ साधन संपत्ति से युक्त होते हैं; सब पापस्थानों से निवृत्त होते हैं; और संपूर्ण सिद्धि को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार धर्म ही में प्रयोजन रखनेवाला, धर्मविद् तथा मोक्षपरायण कोई भिक्षु ही कमलों में श्रेष्ठ उस श्वेत कमल को प्राप्त कर सकता है, या न भी प्राप्त करे। कर्म संग तथा संसार का स्वरूप जानने वाला और सम्यक्

प्रवृत्तियुक्त, अपने कल्याण में तत्पर, जितेन्द्रिय वह भिक्षु श्रमण ब्राह्मण, शांत, दांत गुप्त (अशुभ प्रवृतियों से अपनी रक्षा करने वाला) मुक्त, ऋषि, मुनि, कृति, विद्वान्, भिक्षु, रुक्ष (कठोर संयम पालने वाला), मुमुक्षु और चरण करण (पंच महाव्रत चरण और उनकी रक्षा के के लिये समितिगुप्ति आदि करण) का पार जानने वाला कहलाता है। [१४-१५]

— ऐसा श्रीसुधर्मास्वामी ने कहा।

दूसरा अध्ययन

—(०)—

तेरह क्रियास्थान

(१)

श्री सुधर्मास्वामी कहने लगे—

हे आयुष्मान्! भगवान् महावीर के पास क्रियास्थान (कर्मबन्धन के स्थान) के सम्बन्धमें सुना हुआ उपदेश मैं यथाक्रम तुझे कहता हूँ। उसमें मुख्यतः धर्म और अधर्म दो स्थानों का वर्णन है। धर्म का स्थान उपशम युक्त और अधर्म का उसके विपरीत होता है।

जीव दूसरे जीवों-नारकी, तिर्यंच (पशु-पक्षी), मनुष्य और देव के प्रति १३ प्रकार से पाप करता है, इससे उसको कर्म का बन्ध होता है। इस कारण वे क्रियास्थान कहलाते हैं। वे निम्न हैं—

(१) अर्थदंड प्रत्ययिक क्रियास्थान--कुछ 'अर्थ' (प्रयोजन) के किये हुए पाप से प्राप्त होने वाला क्रियास्थान। जैसे कोई अपने या अपनों (माता-पिता आदि कुटुम्बी और मित्र परिचित जन) के लिये त्रस स्थावर जीवों की हिंसा करे, करावे या अनुमति दे।

(२) अनर्थदंड प्रत्ययिक—बिना कुछ प्रयोजन के किये हुए पाप से प्राप्त होने वाला क्रिया स्थान। जैसे कोई अविवेकी मूर्ख मनुष्य बिना किसी प्रयोजन के त्रस-स्थावर की हिंसा करे करावे या अनुमति दे।

(३) हिंसादंड प्रत्ययिक—प्राणों की हिंसा के पाप के कारण से प्राप्त होने वाला क्रियास्थान। जैसे कोई मनुष्य ऐसा सोच कर कि अमुक प्राणी या मनुष्य ने मुझे, मेरे सम्बन्धियों को या अन्य को कष्ट दिया था, देता है या देगा, स्थावर त्रस जीवों की हिंसा करता है।

(४) अकस्माद्दंड प्रत्ययिक—अनजान में हुए पाप के कारण प्राप्त होने वाला क्रियास्थान। जैसे कोई मनुष्य मृग आदि जानवरों की शिकार करके आजीविका चलाता हो, वह किसी अन्य प्राणी को मृग जान कर बाण मार दे और इस प्रकार वह दूसरा प्राणी अनजान में मारा जावे; या कोई मनुष्य अनाज के खेतमें बेकाम घास नींदता हुआ अनजान में अनाज के पौधे ही को काट दे।

(५) दृष्टि विपर्यास दंड प्रत्ययिक—दृष्टि के चूकने से हुए पाप के कारण प्राप्त होनेवाला क्रियास्थान। जैसे कोई पुरुष अपने सम्बन्धियों के साथ किसी गाँव या नगरमें (इसके सिवाय मूलमें खेट-नदी या पहाड के किनारे का छोटा गाँव; खर्बट-पर्वत से घिरा हुआ गाँव; मंडल-जिसके चारों ओर योजन तक गाँव न हो ऐसा गाँव; द्रोणमुख-नदी या समुद्रके किनारे जहाँ पूर या ज्वार आता हो वहाँ बसा हुआ गाँव; पट्टण-रत्न की खानवाला गाँव; आश्रम-तापसों का गाँव; संनिवेश-व्यापारियों के कारवाँ या फौज का पड़ाव; निगम-व्यापारी वणिकों की मंडी और राजधानी) रहता हो, वहाँ चोरों का धावा गिरे तो उस समय चोर न हो उसे चोर मान कर वह मार डाले।

(६) मृषावाद प्रत्ययिक—झूठ बोलने के पाप के कारण प्राप्त होने वाला क्रियास्थान। जैसे कोई मनुष्य अपने स्वयं के लिये या अपनों के लिये झूठ बोले, बुलावे या अनुमति दे।

(७) अदत्तादान प्रत्ययिक—चोरी करने के पाप के कारण प्राप्त होने वाला क्रियास्थान। जैसे मनुष्य अपने स्वयं के लिये अथवा अपनों के लिये चोरी करे, कराये या अनुमति दे।

(८) अध्यात्म प्रत्ययिक—क्रोधादि विकारों के पाप के कारण प्राप्त होने वाला क्रियास्थान; जैसे कोई मनुष्य क्रोध, मान, माया, या लोभ इन चारों में से एक अथवा इन चारों दूषित मनोवृत्तियों से युक्त होकर, किसी के कष्ट न दिये जाने पर भी दीन, हीन, द्वेष-युक्त, खिन्न और अस्वस्थ होकर शोकसागर में डूबा हुआ सिरपर हाथ रखकर चिन्तामग्न हो दुष्ट विचार करने लगे।

(९) मान प्रत्ययिक—मान अहंकार के पाप के कारण प्राप्त हुआ क्रियास्थान। जैसे कोई मनुष्य अपनी जाति, कुल, बल, रूप तप ज्ञान, लाभ, ऐश्वर्य या प्रज्ञा आदि से मदमत्त होकर दूसरों की अवहेलना या तिरस्कार करे, अपनी प्रशंसा करे। ऐसा मनुष्य क्रूर, घमंडी, चपल और अभिमानी होता है। वह मरने के बाद एक योनि में से दूसरी योनि में और एक नरक में से दूसरे नरकमें भटकता रहता है।

(१०) मित्रदोष प्रत्ययिक—अपने कुटुम्बियों के प्रति बिना कारण सीमा के बाहर क्रूरता का पाप करने के कारण प्राप्त होने वाला क्रियास्थान। जैसे कोई मनुष्य अपने माता-पिता, भाई-बहिन, स्त्री, पुत्र-पुत्री और पुत्रवधु आदि के साथ रहता हो; उनको वह छोटे २ दोष के लिये भी कठिन सजा देता है जैसे उन्हें ठंडे पानी में डुबावे, उनके ऊपर गरम पानी डाले, आग से डाँब दे या रस्सी आदि से मार मार कर उनका चमड़ा उधेड़ दे या लकड़ी आदि से उन को

पीटे। ऐसा मनुष्य जब तक घर में होता है, सब मनुष्य बड़े दुःखी रहते हैं और उसके बाहर जाते ही वे प्रसन्न होते हैं। वह बात बात में नाराज हो जाता है। चाहे जैसी सजा उनको देता है और उनकी पीठका मांस तक जल उठे ऐसे मरम वचन बोलता हैं।

(११) माया प्रत्ययिक—माया-छल-कपट के पाप के कारण प्राप्त होने वाला क्रियास्थान। कितने ही मनुष्य मायावी और कपटी होते हैं, उनके कोई काम सीधे नहीं होते। उनकी नियत दूसरों को धोखा देने की होती है। उनकी प्रवृत्ति गूढ़ और गुप्त होती है। वे अन्दर से तुच्छ होने पर भी बाहर अच्छे होने का ढोंग करते हैं। आर्य होने पर भी वे अनार्यों की भाषाओं में (गुप्त संकेतों में) बोलते हैं पूछा हो उसका उत्तर न देकर कुछ दूसरा ही कहते हैं, कहना हो वह न कह कर कुछ और ही कहते हैं। उनका कपटी मन कभी निर्भय नहीं होता। वे अपने दोष कभी स्वीकार नहीं करते। न उनको फिर कहने का निश्चय ही वे करते हैं; न उनके प्रति निन्दा या घृणा ही वे प्रकट करते हैं और न वे यथायोग्य तप-कर्म से उनका प्रायश्चित ही लेते हैं। ऐसे मनुष्यों का इस लोकमें कोई विश्वास नहीं करता और परलोक में भी वे नरक आदि हीन गति में बारबार जाते हैं।

(१२) लोभ प्रत्ययिक—कामभोग आदि विषयों में आसक्ति के पाप के कारण प्राप्त होने वाला क्रियास्थान। कितने ही (तापस अथवा साधु) जंगल में, आश्रम में अथवा गांव के बाहर रहते हैं और अनेक गुप्त क्रियाएं और साधना करते हैं परन्तु वे पूर्ण संयमी नहीं होते और न सब प्राणियों की (कामना और हिंसा) से सर्वथा विरक्त होते हैं। वे स्त्री आदि कामभोगों में आसक्त और मूर्छित रहते हैं।

वे अपने सम्बन्ध में चाहे जैसी झूठी-सच्ची बातें दूसरों को कहते फिरते हैं। जैसे, दूसरों को मारो पर हमें न मारो; दूसरों को आज्ञा करो पर हमको नहीं, दूसरों को दण्ड दो पर हमें नहीं, दूसरों को प्राण-दण्ड दो पर हमें नहीं। ये लोग कुछ समय तक कामभोग भोग कर नियत समय पर मृत्यु को प्राप्त होकर असुर और पातकियों के स्थान को प्राप्त होते हैं; वहां से छूटने पर बारबार जन्म से गूंगे-बहरे, अंधे या सिर्फ गूंगे होते हैं।

इन बारह क्रियास्थानों को मुमुक्षु श्रमणब्राह्मण अच्छी तरह समझ कर त्याग दे क्योंकि ये सब अधर्म के स्थान हैं।

हे वत्स, अब मैं तुझे तेरहवाँ ईर्यापथिक क्रिया स्थान कहता हूँ। पथिक अर्थात् शुद्ध साधुजीवन (ईर्यापथ) व्यतीत करने वाले मुनि से भी अनजान में अवश्य होने वाली स्वाभाविक क्रिया के कारण होने वाला पाप। आत्मभाव में स्थिर रहने के लिये सब प्रकार की मन, वचन और काया की प्रवृत्तियां सावधान हो कर करने वाले और इन्द्रियों को वश में रखकर सब दोषों से अपने को बचाने वाले संयमी मुनि से भी पलकों के हिलने के समान सूक्ष्म क्रियाएं हो ही जाती हैं; इससे उसे कर्म का बंध होता है। परन्तु वे कर्म प्रथम क्षण में बंधते हैं और आत्मा के सम्बन्ध में आते हैं, दूसरे क्षण में अनुभव हो जाता है और तीसरे क्षण में नाश हो जाता है; इस प्रकार भिक्षु उन कर्मों से तो रहित हो जाता है। (प्रवृत्ति मात्र से आत्मा में कर्म का प्रवेश होने के लिये मार्ग खुल जाता है। यदि वे प्रवृत्तियाँ क्रोध, लोभ आदि कषायों से हों तो कर्म आत्मा के विपाक का स्थिति को प्राप्त होते हैं; अन्यथा वे सूखी दीवाल पर फैंके जाने वाले लकड़ी के गोले के ठप्पे समान तुरन्त ही मिट जाते हैं।)

परन्तु यह क्रियास्थान अधर्म का स्थान है, इस कारण सेवन करना चाहिये। भूतकाल में अरिहंतों और भगवन्तों ने इसका उपदेश दिया है और इसको सेवन किया है, वर्तमान में भी उपदेश देते और सेवन करते हैं और भविष्य में भी ऐसा ही करेंगे।

इन तेरह क्रियास्थानों को जो अरिहंत और भगवंत पहिले हो गये हैं, वर्तमानमें हैं और भविष्यमें होंगे, उन सब ने बतलाये हैं और इनका उपदेश दिया है, देते हैं और भविष्य में देंगे।

(२)

कितने ही लोग मंत्र, तंत्र, जारण, मारण, लक्षण, ज्योतिष.. आदि अनेक कुविद्याओं के द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। इन सब विद्याओं को वे खानपान, वस्त्र, घरबार आदि उपभोग-सामग्री प्राप्त करने के लिये और विविध कामभोग भोगने के लिये ही करते हैं। ऐसी कुविद्याओं को करके वे अनार्य कुमार्ग पर चलते हुए मृत्यु को प्राप्त होने पर असुर और पातकी के स्थान को प्राप्त होते हैं, वहाँ से छूटने पर गूंगे, बहरे, या अंधे होकर जन्म लेते हैं।

कितने ही लोग किसी के अनुयायी, सेवक या नौकर बनकर (उनका विश्वास प्राप्त करके) उनका खून करके या मार-पीट कर उनका धन छीन कर अपने लिये आहार आदि भोग सामग्री प्राप्त करते हैं।

कितने ही लोग मार्गदर्शक (रास्ता बताने वाले) बन कर यात्रियों को लूट-खसोट कर या चोर बन कर किसी के घर में खात लगा कर या जेब काट कर अपने या अपनों के लिये आहार आदि भोग सामग्री प्राप्त करते हैं।

कितने ही लोग गडरिये बनकर भेड़ आदि प्राणियों को मार कर आहार आदि भोग सामग्री प्राप्त करते हैं; कुछ कसाई बनकर पाड़े आदि प्राणियों को मार-काट कर, जाल बिछाने वाले बनकर हरिन आदि प्राणियों को मार-काट कर या चिड़ीमार बन कर पक्षी आदि प्राणियों को मार-काट कर, या मछुआ बनकर मच्छी आदि प्राणियों को मार-काट कर, या ग्वाला बन कर गाय आदि प्राणियों को मार कर, या गाय काटने वाले कसाई बन कर गाय आदि को मार-काट कर, या शिकारी कुत्ते पालने वाले बन कर कुत्ते आदि को मार-काट कर, या उस कुत्ते वाले के सहायक बन कर कुत्ते आदि प्राणियों को मार-काट कर—अपने या अपनों के लिये आहार आदि भोग सामग्री प्राप्त करते हैं। इस प्रकार वे अपने पापकर्मों से अपनी अधोगति करते हैं।

और भी, कितने ही लोग जब सभा में बैठे होते हैं तो अकारण ही खड़े हो कर कहते हैं, 'देखो, मैं उस पक्षी को मारता हूं!' ऐसा कह कर वे तीतर, बटेर, लावा, कबूतर या कपिंजल आदि प्राणियों को मार डालते हैं।

कितने ही लोग खेत-खले या दारू-शराब के बेचने में झगड़ा हो जाने या किसी कारण से चिढ़ जाने से उस गृहस्थ अथवा उसके लड़कों के खेतों में खुद या दूसरों से आग लगवा देते हैं, या उनके ऊँट, गाय, घोड़े, गधे आदि पशुओं के अंगों को खुद या दूसरों से कटवा देते हैं; या उनके पशुओं के बाड़ों को कांटों-झंखाडों से भर कर खुद या दूसरों से आग लगा देते हैं; या उनके कुंडल, मणि, मोती आदि बहुमूल्य वस्तुएँ खुद या दूसरों से लुटा देते हैं; या उनके घर पर आये हुए श्रमण-ब्राह्मणों के छत्र, दंड, पात्र आदि

खुद या दूसरों से छिना लेते हैं। ऐसा करके वे महापाप कर्मों से अपनी अधोगति करते हैं।

दूसरे बिना कारण ही सब कुछ करते हैं और इस तरह अपनी अधोगति करते हैं।

कितने ही मनुष्य किसी श्रमण अथवा ब्राह्मण को आता देख उसे चले जाने का इशारा कर देते हैं अथवा उसे कठोर वचन सुनाते हैं। भिक्षार्थ आये हुए को कुछ देने के बदले में वे उसे कहते हैं कि मजदूरी करना पड़े या कुटुम्ब का पालन न कर सकता हो या आलसी बेकार नीच मनुष्य होने के कारण श्रमण होकर भटकता फिरता है। वे नास्तिक लोग इस जीवन की—पापी जीवन की प्रशंसा करते हैं। उन्हें परलोक से कुछ मतलब नहीं। वे तो अपने सुख के लिये दूसरों को चाहे जैसे दुःख देते हैं पर जरा भी फिर कर देखते तक नहीं। वे बड़ी बड़ी प्रवृत्तियाँ और पापकर्म करके मनुष्य जीवनके उत्तमोत्तम कामभोगों को भोगते हैं। खान पान, वस्त्र, शयन आदि सब कुछ उनको समय पर चाहिये। नहा धोकर बलिकर्म करके, कौतुक (नजर-दृष्टि दोष आदि का उतार) मंगल (स्वर्ण, दहि, सरसों आदि मांगलिक वस्तुओं का प्रातःमें स्पर्श आदि) और प्रायश्चित (रात्रि के दुस्वप्नादि के या प्रातः उठते समय के अपशकुन के निवारणार्थ) से निवृत्त होकर, बाल कटवाकर, कंठमाला, कंदोरा, हार आदि मणिस्वर्णादि से अपना शृंगार करके वे मालायुक्त मुकुट को धारण करते हैं। उनका शरीर दृढ़ अवयवों का होता है। वे नये बढ़िया कपड़े पहिनते हैं और अंगों पर चन्दन का लेप करते हैं। वे सुशोभित तथा किलों से सुरक्षित भवनों में सुशोभित सिंहासनों पर बैठकर, सुन्दर स्त्रियों और दास-दासियों के बीचमें सारी रात दीपकों

के प्रकाश में नाच गान और बाजों के मधुर आलाप के साथ काम-भोगों में उत्तम भोगों को भोगते रहते हैं।

वे एक को बुलाते हैं कि चार पाँच मनुष्य बिना कहे दौड़ आते हैं और कहने लगते हैं कि, 'हे देवों के प्रिय! कहिये, हम क्या करें?' ऐसा देख कर अनार्य पुरुष कहते हैं, 'अरे! यह मनुष्य तो देव है, उसे देव भी पूजते हैं। वह तो देवों को भी जिलाने वाला है और दूसरे भी अनेक उसके आधार पर जीते हैं।' परन्तु उसको देख कर आर्य पुरुष सोचते हैं कि, 'ये अत्यन्त क्रूर कर्मों में प्रवृत्त हुए मूर्ख असंख्य पापकर्मों के द्वारा जी रहे हैं और असंख्य पापकर्म बांध रहे हैं। वे अवश्य ही दक्षिणायन में कृष्णपक्ष में मरेंगे और नरक को प्राप्त होंगे। आगे भी वे ज्ञान प्राप्त न कर सकेंगे।'

कितने ही भिक्षु कितने ही गृहस्थ और कितने ही तृष्णातुर संसारी इन सुखों और ऐश्वर्यों की कामना करते रहते हैं। परन्तु यह अधर्मस्थान अनार्य है, अशुद्ध है, सदा अपूर्ण है, अन्यायों पर प्रतिष्ठित है, संयम रहित है, मोक्षमार्ग से विरुद्ध है, सब दुःखों को क्षय करने के मार्ग से विरुद्ध है, अत्यन्त मिथ्या है और अयोग्य है।

अब मैं धर्मरूप द्वितीय स्थान का वर्णन करता हूँ, उसे सुन।

इस जगत् में अनेक अनेक मनुष्य अपने अपने कर्मों के अनुसार विविध कुलों में विविध ऐश्वर्य के साथ जन्म लेते हैं। उनको खेती-बाड़ी, घर, खेत, धन-सम्पत्ति, नौकर-चाकर होते ही हैं। ऐसी स्थिति में जन्म लेकर भी कितने ही इन सब वस्तुओं को तुच्छरूप जानकर,

सच्ची और स्थायी शान्ति प्राप्त करने के लिये भिक्षाचर्या स्वीकार करते हैं; सद्गुरु के पास से महापुरुषों का कथित धर्म जान कर प्रयत्न पूर्वक उसमें प्रवृत्त होते हैं और सब पापस्थानों से निवृत्त होकर तथा सब शुभ साधन सम्पत्ति प्राप्त करके सिद्धि को प्राप्त करते हैं।

यह धर्मस्थान आर्य है, शुद्ध है...मोक्षमार्ग के अनुकूल है और सब दुखों को क्षय करनेवाला मार्ग होने से अत्यन्त योग्य है।

हे वत्स, कितने ही लोग बाहर से धर्मस्थान में लगे हुए अधर्मस्थान को सेवन करने के कारण मिश्रस्थानी होते हैं। वे साधु, तापस बन कर अरण्य में, आश्रम में या गाँव के बाहर रह कर गुप्त क्रिया और साधना करते रहते हैं; वे पूर्ण संयमी नहीं होते या सब प्राणियों की कामना या हिंसा से विरक्त भी नहीं होते। स्त्री आदि कामभोगों में मूढ वे कम-ज्यादा कामभोगों को भोग कर नियत समय पर मृत्यु को प्राप्त होकर, असुर और पातकी के स्थान को जाते हैं, वहाँ से छूटकारा होने पर गूंगे, अन्धे या बहरे होकर जन्म लेते हैं।

(२)

[अधर्मरूपी प्रथम स्थान का फिर वर्णन करते हैं।]

इस जगत् में कितने ही लोग बड़ी इच्छावाले, बड़ी प्रवृत्तिवाले, बड़े परिग्रहवाले, अधार्मिक, अधर्मपरायण, अधर्म के अनुमोदक, अधर्म के उपदेशक, अधर्मयुक्त और वैसे ही स्वभाव और आचार से युक्त होते हैं। वे मनुष्य संसार में अधर्म के द्वारा ही आजीविका

चलाते हुए रहते हैं।

उनके हाथ प्राणियों के खून से भरे रहते हैं। वे चण्ड, रुद्र और साहसिक होते हैं। वे कपटपूर्ण, दुष्ट चरित्री, दुराग्रही असाधु होते हैं। वे हिंसा से लेकर परिग्रह तक और क्रोध से लेकर मिथ्या मान्यता (अठारह पापस्थान) तक के पापों में लीन रहते हैं। वे सब प्रकारके स्नान, मर्दन, गंध, विलेपन, माल्य, अलंकार तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध आदि विषयों में फंसे रहते हैं। वे सब प्रकार के यानवाहन (गाड़ी, रथ, म्याना, डोली, बग्गी, पालकी आदि) और शयनासन आदि सुखसामग्री भोगने-बढ़ाने में अवकाश नहीं पाते। जीवनभर वे खरीदने-बेचने में, माशा-आधा माशा तोलने में या रुपये आदि के व्यापार से फुरसत नहीं पाते। वे जीवनभर चांदी, सोना, धन, धान्य, मणि, मोती, प्रवाल आदि का मोह नहीं छोड़ते। वे जीवनभर सब प्रकार के खोटे तोल-बाट काम में लाने से नहीं रुकते। वे जीवनभर सब प्रकार की प्रवृत्तियों और हिंसाओं से, सब कुछ करने-कराने से, पकाने-पकवाने से, खांडने-कूटने से, मारने-पीटने से, दूसरों को बन्धन आदि के दुःख देने से निवृत्त नहीं होते। वे जीवनभर ऐसे ही दोषयुक्त, ज्ञान के ढंकने वाले, बन्धन के कारण, दूसरों को परिताप उत्पन्न करने वाले आदि अनार्य कर्मों से निवृत्त नहीं होते।

इस प्रकार अपने ही सुख के लिये जीवन को भोगते हुए वे अकारण ही चावल, दाल सिल्ली, मूंग आदि वनस्पति के जीवों और उसी प्रकार पक्षी, पशु और सर्पादि प्राणियों की हिंसा करते हैं।

अपने बाह्य परिवार—नौकर चाकर, दासदासी, किसान या आश्रित आदि के प्रति वे अत्यन्त क्रूरतापूर्ण कठोर व्यवहार करते हैं।

उनके छोटे अपराध करने पर भी वे उनको कठिन दण्ड देते हैं, बेमौत मार डालते हैं।

उसी प्रकार अपने आन्तरिक परिवार—माता-पिता, भाई-बहिन, स्त्री, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधु आदि को भी उनके छोटे अपराध करने पर भी कठोर दण्ड देते हैं। इस प्रकार उन सब को दुःख, शोक और परि-ताप देते हैं। ऐसा करने से वे जरा भी नहीं रुकते।

इस प्रकार स्त्री आदि कामभोगों में आसक्त और मूर्छित ऐसे वे मनुष्य कम-ज्यादा समय काम भोगों को भोगकर, अनेक वैर और पापकर्मों को इकट्ठा करके आयु समाप्त होने पर जैसे पत्थर या लोहे का गोला पानी में नीचे बैठ जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी को लांघ कर नीचे नरक में जाते हैं। वे नरक अंधकार, खून-पीप से भरे हुए, गन्दे और असह्य दुर्गन्ध से पूर्ण, दुस्तर, अशुभ और भयंकर होते हैं। वहाँ उनको निद्रा, स्मृति, रति, धृति, और मति से रहित होकर भयंकर वेदनाएँ सतत् भोगनी पड़ती है। जैसे कोई पर्वत पर के पेड़ को काटते हुए नीचे लुढ़क जावे, इस प्रकार वे एक योनि में से दूसरी योनि में, एक नरक में से दूसरे नरक में बहुत काल तक अपार दुःख भोगते हुए भटकते रहते हैं और वहाँ से छूटने के बाद भी वे जल्दी विवेक ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते।

[अब धर्मरूपी दूसरे स्थान का फिर वर्णन करते हैं।]

यहाँ जगत् में कितने ही मनुष्य बड़ी इच्छा, आरम्भ और परिग्रह से रहित, धार्मिक और धर्मपूर्वक आजीविका चलाने वाले होते हैं। वे सब प्रकार की हिंसा आदि ज्ञान को ढँकनेवाले, दूसरों को दुःख देने वाले और बन्धनों के कारण पापकर्मों से जीवन-

भर निवृत्त रहते हैं। घर को त्याग करके निकले हुए वे भगवंत साधु चलने में, बोलने में आदि कार्यों में सावधानी से किसी प्राणी को दुःख न हो ऐसा व्यवहार करने वाले होते हैं। वे क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित, शांत, मोहरहित, ग्रंथीरहित, शोकरहित और अमूर्छित होते हैं। वे काँसे के बर्तन की भांति निर्लेप, शंख की भांति निर्मल, जीव की भांति सर्वत्र गमन करने वाले, आकाश की भांति अवलम्बनहीन, वायु की भांति बन्धनहीन, शरद्‌ऋतु के जल की भांति निर्मल हृदय वाले, कमलपत्र की भांति निर्लेप, कछुवे की भांति इन्द्रियों की रक्षा करने वाले, पक्षी की भांति मुक्त, गेंडे के सींग की भांति एकाकी, भारण्डपक्षी की भांति सदा जाग्रत, हाथी की भांति शक्तिमान्, बैल की भांति बलवान्, सिंह की भांति दुर्धर्ष, मन्दर पर्वत की भांति निष्कंप, सागर की भांति गम्भीर, चन्द्र के समान सौम्य कांतिवान्, सूर्य के समान तेजस्वी, कंचन के समान देदीप्यमान्, पृथ्वी के समान सब स्पर्शों को सहन करने वाले और घी डाली हुई अग्नि के समान तप के तेज से ज्वलन्त होते हैं।

इन साधुओं को पशु, पक्षी, निवासस्थान या वस्त्रादि साधन सामग्री के चारों अन्तरायों में से एक भी अन्तराय किसी भी दिशा में जाने में बाधक नहीं होती। वे निर्मल, अहंकार रहित और अल्प परिग्रही होने के कारण संयम और तप से आत्मा को वासित करते हुए चाहे जिस दिशा में विचरते हैं।

ये साधु मात्र संयम के निर्वाह के लिये आवश्यक हो उतना ही चार बार (चउत्थ भत्त-एक उपवास), छः बार (छट्ठ भत्त-दो उपवास), आठ बार (अट्ठम भत्त-तीन उपवास), दस बार (चार उपवास) इस प्रकार छः महिने तक छोड़ कर खाते हैं और वह भी विधि के

अनुसार निर्दोष अन्न भिक्षा के द्वारा प्राप्त करके खाते हैं। वे आसन पर स्थिर रहकर ध्यान करते हैं; भिक्षु की प्रतिमा के बारह प्रकार का तप करते हैं, और वे सोने-बैठने में भी नियमबद्ध होते हैं। उनको शरीर की ममता नहीं होती और वे बाल, दाढ़ी, मूछ, रोम, नख आदि शरीर के संस्कारों से रहित होकर विचरते हैं। वे वस्त्र तक नहीं पहिनते, खाज खुजाते नहीं, थूकते भी नहीं हैं।

टिप्पणी—भिक्षु की बारह प्रतिमाएँ–पहिली, एक मास तक अन्न और जल की एक दत्ति (गृहस्थ या दाता अन्न-जल दे तब एक धार में आवे उतना ही) लेना। इसी प्रकार दूसरी, तीसरी, चौथी पांचवीं, छठी और सातवीं प्रतिमा में क्रमशः एक एक मास बढाते हुए एक एक दत्ति बढाना। आठवीं प्रतिमा, सात रात्रि और एक दिन तक बिना पानी पिये एकान्तर उपवास करे, पारनेमें केवल ओसामन पिये, गांव के बाहर रहे, चित या बाजू से सोवे, उकडू बैठे। नौवीं प्रतिमा–समय आठवीं के बराबर ही है; इसमें भी उकडू रहकर टेढी लकडी के समान सिर, पैर और पीठ जमीन को छुवे इस प्रकार सोवे। दसवीं भी आठवीं के समान ही पर बैठने में गोदोहासन और वीरासन से संकुचित होकर बैठे। ग्यारहवीं में एक रात और एक दिन बिना जल के दो उपवास (छट्ठ भत्त–छः बार भोजन न करना) करके और गाँव के बाहर हाथ लम्बा करके रहे। बारहवीं प्रतिमामें तीन उपवास करके एक रात्रि नदी के किनारे बैठकर आँखें न मीचे।

इस प्रकार की निर्दोष और पुरुषार्थमय चर्या के अनुसार जीवन बिताते हुए बहुत वर्षों तक श्रमण-जीवन व्यतीत करने पर जब शरीर

रोग और वृद्धावस्था आदि संकटों से घिर जाते तब अथवा यों ही वे खाना-पीना छोड़ देते हैं और जिसके लिये स्वतः नग्नावस्था स्वीकार की थी, मुंडन कराया था, स्नान और दंत प्रक्षालन त्याग दिया था, छतरी और जूते त्याग दिये थे, भूमिशय्या या पाट पर सोना स्वीकार किया था, केश लोच किये थे, ब्रह्मचर्य पालन किया था, दूसरों के घर भिक्षा मांगी थी—वह भी मिले या न मिले इसको महत्त्व नहीं दिया था, मानापमान, अवहेलना, निंदा, अवज्ञा, तिरस्कार, तर्जन, ताड़ना सहन किये थे और अनेक अनुकूल-प्रतिकूल इन्द्रिय स्पर्श सहन किये थे—उस वस्तु की चित्त में आराधना करते हैं। इसके बाद जब अन्तिम श्वासोच्छ्‌वास चलता हो तब वे अनन्त, सर्वोत्तम, व्याघातरहित, आवरणहीन, सम्पूर्ण और परिपूरित उत्तम 'केवल' ज्ञानदर्शन प्राप्त करते हैं, तथा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर 'परिनिर्वाण' को प्राप्त होते हैं और सब दुःखों का अन्त करते हैं।

कितने ही भगवन्तों को अन्तिम शरीर होता है, तब दूसरे पूर्वकर्मों के कारण दिव्य ऋद्धि; द्युति, रूप, वर्ण, गन्ध, स्पर्श, देह, आकृति, तेज, प्रकाश, पराक्रम, यश, बल, प्रभाव तथा सुख से युक्त देवगति को प्राप्त होते हैं। यह गति और स्थिति कल्याणमय होती है। भविष्य में भी वे भद्र अवस्था को ही प्राप्त होंगे।

यह स्थान आर्य है, शुद्ध है और सब दुःखों को क्षय करने का मार्गरूप है।

[अब मिश्र नामक तृतीय स्थान का वर्णन करते हैं।]

कितने ही मनुष्य अल्प इच्छा, आरम्भ तथा परिग्रह वाले होते हैं, वे धर्मिष्ठ धर्मपूर्वक आजीविका चलाते हैं; वे सुशील, सुव्रती तथा

सरलता से प्रसन्न हो सकें ऐसे सज्जन होते हैं। वे कई प्रकार की हिंसाओं से मुक्त होते हैं, किन्तु कई हिंसाओं से जीवन भर मुक्त नहीं होते। इसी प्रकार अनेक दूसरे ऐसे दोषमय कर्मों से मुक्त होते हैं और दूसरे कितने से मुक्त नहीं होते।

जैसे, कितने ही श्रमणोपासक (गृहस्थ) जीव और अजीव तत्वों के सम्बन्ध में जानते हैं, पाप-पुण्य के भेद को जानते हैं, कर्म आत्मा में क्यों प्रवेश करते हैं (आश्रव), और कैसे रोके जा सकते हैं (संवर), उनके फल कैसे होते हैं और वे कैसे नष्ट हो सकते हैं (निर्जरा), क्रिया किसे कहते हैं, उसका अधिकरण क्या है, बन्ध और मोक्ष किसे कहते हैं-यह सब जानते हैं। दूसरे किसी की सहायता न होने पर भी देव, असुर, राक्षस या किन्नर आदि उनको उस सिद्धान्त से विचलित नहीं कर सकते। उनको जैन सिद्धान्त में शंका, कांक्षा और विचिकित्सा नहीं होती। वे जैन सिद्धान्त का अर्थ जान बूझ कर निश्चित होते हैं। उनको उस सिद्धान्त में हड्डी-मज्जा के समान अनुराग होता है। उनको विश्वास होता है कि, "यह जैन सिद्धान्त ही अर्थ और परमार्थ रूप है, और दूसरे सब अनर्थरूप हैं।" उनके घर के द्वार आगे निकले हुए होते हैं। उनके दरवाजे अभ्यागतों के लिये खुले रहते हैं। उनमें दूसरों के घर में या अन्तः पुर में घुस पड़ने की इच्छा नहीं होती। वे चतुर्दशी, अष्टमी अमावस्या और पूर्णिमा को परिपूर्ण पौषध व्रत विधिपूर्वक करते हैं। वे निर्ग्रन्थ श्रमणों को निर्दोष और स्वीकार करने योग्य खान-पान, मेवा-मुखवास, वस्त्र-पात्र, कम्बल, रजोहरण औषध-भेषज, सोने-बैठने को पाट, शय्या और निवास के स्थान आदि देते हैं। वे अनेक शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यानव्रत, पौषधोपवास आदि तपकर्मों द्वारा आत्मा को वासित करते हुए रहते हैं।

इस प्रकार की चर्या से बहुत समय जीवन व्यतीत करने पर जब उस श्रमणोपासक का शरीर रोग, वृद्धावस्था, आदि विविध संकटों से घिर जाता है तब अथवा यों ही भी वह खाना-पीना छोड देता है तथा अपने किये हुए पाप-कर्मों को गुरु के सामने निवेदन करके उनका प्रायश्चित स्वीकार करके समाधियुक्त होता है (मारणान्तिक संलेषणा धारण करता है) और आयुष्य पूर्ण होने पर मृत्यु को प्राप्त हो कर महाऋद्धि और महाद्युति से युक्त देवलोकोंमें से किसी देवलोक में जन्म लेता है।

यह स्थान आर्य है, शुद्ध है, संशुद्ध है और सब दुःखों को क्षय करने का मार्गरूप है।

यह मिश्र नामक तीसरे स्थान का वर्णन हुआ।

जो मनुष्य पाप से विरक्त नहीं होता, वह बालक के समान मूढ है और जो विरक्त हो जाता है, वह पंडित है; जो कुछ है और कुछ नहीं है, वह बाल और पंडित है।

जो अविरति से युक्त है वही स्थान हिंसा का है और त्याज्य है। जो विरति का स्थान है, वही अहिंसा का है और स्वीकार करने योग्य है। जिसमें कुछ विरति और कुछ अविरति है, वह स्थान हिंसा और अहिंसा दोनों का है। (तो भी) वह आर्य है, संशुद्ध है और सब दुःखों को क्षय करने का मार्गरूप है।

(४)

[अब उपसंहार में सारे अध्ययन के साररूप एक आख्यायिका कहते हैं—]

क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी, और विनयवादी, ऐसे विभिन्न वादियों की संख्या ३६३ कही जाती है। सब लोगों को वे परिनिर्वाण

और मोक्ष का उपदेश देते फिरते हैं। वे अपनी अपनी प्रज्ञा, छन्द, शील, दृष्टि, रुचि, प्रवृत्ति और संकल्प के अनुसार अलग अलग धर्ममार्ग स्थापित करके उनका प्रचार करते हैं।

एक समय ये सब वादी एक बड़ा घेरा बनाकर एक स्थान पर बैठे थे। उस समय एक मनुष्य जलते हुए अंगारों से भरी हुई एक कढ़ाई लोहे की संड़ासी से पकड़ कर जहाँ ये सब बैठे थे, उठा कर लाया और कहने लगा—'हे मतवादियो! तुम सब अपने अपने धर्ममार्ग के प्रतिपादक हो और परिनिर्वाण तथा मोक्ष का उपदेश देते फिरते हो। तुम इस जलते हुए अंगारों से भरी हुई कढ़ाई को एक मुहूर्त तक खुले हुए हाथ में पकड़े रहो।'

ऐसा कह कर वह मनुष्य उस जलते हुए अंगारों की कढ़ाई को प्रत्येक के हाथमें रखने को गया। पर वे अपने अपने हाथ पीछे हटाने लगे। तब उस मनुष्य ने उनसे पूछा—"हे मतवादियो! तुम अपने हाथ पीछे क्यों हटाते हो? हाथ न जलें इस लिये? और जले तो क्या हो? दुःख? दुःख हो इसीलिये अपने हाथ पीछे हटाते हो, यही बात है न?

"तो इसी गज या माप से दूसरों के सम्बन्ध में भी विचार करना यही धर्मविचार कहा जाय या नहीं? बस; तब तो अब नापने का गज, प्रमाण और धर्मविचार मिल गये! अतएव जो श्रमण ब्राह्मण ऐसा कहते हैं और उपदेश देते हैं कि सब प्राणियों को मारना चाहिये, उनके पास जबरदस्ती से काम लेना चाहिये, दुःख देना चाहिये, वे सब भविष्य में इसी प्रकार छेदन-भेदन और जन्म, जरा, मरण को प्राप्त होंगे और अनेक योनियों में भटकते हुए भवसागर के दुःखों को

भोगेंगे। उनको मातृमरण, पितृमरण, भ्रातृमरण और इसी प्रकार पत्नी, पुत्र, पुत्री और पुत्रवधु की मृत्यु के दुःख भोगने होंगे तथा दारिद्रता, दुर्भाग्य, अनिष्टयोग और इष्टवियोग आदि अनेक प्रकार के दुःख-संताप भोगने पड़ेंगे। उनको सिद्धि या बोध प्राप्त होना असम्भव होगा। वे सब दुःखों का अन्त नहीं कर सकेंगे।

"परन्तु जो श्रमण ब्राह्मण अहिंसा धर्म का उपदेश देते हैं, वे सब दुःखों को नहीं उठावेंगे और वे सिद्धि और बोध को प्राप्त करके सब दुःखों का अन्त कर सकेंगे।"

पहिले के बारह क्रियास्थान को करने वाले जीवों को सिद्धि, बुद्धि और मुक्ति प्राप्त होना कठिन है, परन्तु तेरहवें क्रियास्थान को करने वाले जीव सिद्धि बुद्धि और मुक्ति प्राप्त करके सब दुःखों का अन्त कर सकेंगे। इसलिये, आत्मा के इच्छुक, आत्मा के कल्याण में तत्पर, आत्मा पर अनुकम्पा लाने वाले और आत्मा को इस कारागृह में से छुड़ाने का पराक्रम और प्रवृत्ति करने वाले मनुष्य अपनी आत्मा को इन बारह क्रियास्थानों से बचावें।

—ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने कहा।

तीसरा अध्ययन

—(०)—

आहार-विचार

(१)

श्री सुधर्मास्वामी बोले—निर्दोष आहार के सम्बन्ध में भगवान् महावीर के पास से सुना हुआ उपदेश कह सुनाता हूँ।

कितने ही जीव अपने कर्मों से प्रेरित होकर विविध पदार्थों की योनिरूप पृथ्वी में वनस्पतिरूप में अपने अपने बीज और उत्पत्ति-स्थान के अनुसार उत्पन्न होते हैं। वनस्पति के दूसरे चार प्रकार होते हैं; (१) सिरे पर लगने वाले-ताड, आम आदि; (२) कंद-आलू आदि; (३) पर्व-गन्ना आदि (४) स्कन्ध-मोगरा आदि।

(१) वे वनस्पति-जीव पृथ्वी में वृक्षरूप उत्पन्न होकर पृथ्वी का रस खींचते हैं। वे उन पृथ्वी शरीर के सिवाय दूसरे जल, तेज, वायु और वनस्पति शरीरों का भक्षण करते हैं। इस प्रकार वे त्रस-स्थावर प्राणों को शरीर रहित करके उनका नाश करते हैं। फिर अपने भक्षण किये हुए और उसी प्रकार त्वचा से भक्षण करते हुए शरीरों को वे पचाकर अपने रूप बना लेते हैं इस प्रकार वे वृक्ष पृथ्वी में उत्पन्न होकर पृथ्वी के आधार पर रहते हैं और बढ़ते हैं। उन वृक्षों की जड़, शाखा, डाली, पत्ते, फूल आदि विविध वर्ण, गंध, रस, स्पर्श तथा आकृति के और विविध प्रकार के शारीरिक परमाणु-

ओं से बने हुए अंग होते हैं। वे सब भी स्वतन्त्र जीव होते हैं, अपने अपने कर्मों के कारण उत्पन्न होते हैं, ऐसा (भगवान् तीर्थंकरने) हमको कहा है।

(२) कितने ही वनस्पति जीव ऊपर कहे हुए पृथ्वीयोनीय वृक्षों में वृक्षरूप उत्पन्न होते हैं और उनका रस चूसकर और जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीरों का भक्षण करके उनके आधार पर रहते हैं और बढ़ते हैं।

(३) उसी प्रकार कितने ही वनस्पति जीव उन वृक्षयोनीय वृक्षों में वृक्षरूप उत्पन्न होते हैं और उनका रस चूसकर.........रहते हैं और बढ़ते हैं।

(४) कितने ही जीव उन वृक्षयोनीय वृक्षों में मूल, कन्द, धड़, त्वचा, डाली, कोपल, पत्ते, फल और बीज के रूप में उत्पन्न होते हैं और उनका रस चूसकर......उनके आधार पर रहते हैं तथा बढ़ते हैं।

कितने ही जीव वृक्षों में वृक्षवल्ली के रूपमें उत्पन्न होते हैं, उनके सम्बन्ध में ऊपर के चारों प्रकार को घटा लेना चाहिये। उसी प्रकार पृथ्वी में होने वाले घास, औषधियाँ और हरियाली के लिये भी।

उसी प्रकार पृथ्वी में उत्पन्न होने वाले आय, वाय, काय कूहण, कंदुक उव्वेहणिय, निव्वेहणिय,, सछत्त छत्तग तथा वासाणिय आदि घासों के सम्बन्ध में समझ आवे। परन्तु (इन घासों में से आय, वाय, काय आदि उत्पन्न नहीं होते इसलिये) उनके सम्बन्ध में पहिला प्रकार ही घटाया जावे, शेष तीन नहीं।

कितने ही वनस्पतिजीव पृथ्वी के बदले पानी में वृक्ष, वृक्षवल्ली, तृण, औषधि और हरियाली के रूप में उत्पन्न होते हैं, इनमें से प्रत्येक के लिये ऊपर के चारों प्रकार समझे जावें, परन्तु उदग, अवग, पणग, शेवाल, कलम्बुक, हड, कसेरुग, कच्छभाणिय उत्पल, पद्म, कुमुद, नलिन, सुभग, सौगन्धिय, पुंडरीक, महापुंडरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र, कह्लार, कोकनद, अरविंद, तामरस, बीस, मृणाल, पुष्कर, पुष्कर-लच्छी और भग आदि पानी में उत्पन्न होने वाली वनस्पतियाँ ऐसी हैं कि जिनके लिये शेष तीन प्रकार घटाये नहीं जा सकते।

और भी कितने ही जीव इन पृथ्वी और पानी में उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों में त्रस (जंगम) प्राणी के रूप में रहते हैं और उनके रस आदि खा कर जीते हैं और बढ़ते हैं।

(२)

मनुष्यों के सम्बन्ध में—मनुष्यों में से अनेक कर्म भूमि में पैदा होते हैं, अनेक अकर्म भूमि में पैदा होते हैं, अनेक अन्तरद्वीप में पैदा होते हैं, अनेक आर्य और अनेक म्लेच्छ रूप में पैदा होते हैं।

उनकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है—

स्त्री और पुरुष का पूर्वकर्म से प्राप्त योनि में संभोग की इच्छा से संयोग होता है। वहाँ दोनों का रस इकट्ठा होता है। उसमें जीव स्त्री, पुरुष या नपुंसक के रूप में अपने अपने बीज (पुरुष का बीज अधिक हो तो पुरुष, स्त्री का बीज अधिक हो तो स्त्री और दोनों का समान हो तो नपुंसक होता है, इस मान्यता से) और अवकाश

(गर्भस्थान की दाहिनी बाजु में पुरुष, बायीं में स्त्री और बीच में नपुंसक होता है, इस मान्यता से) के अनुसार उत्पन्न होता है। वह जीव पहिले माता का रज पिता का वीर्य या दोनों मिलकर होनेवाली गंदी वस्तु खाता है। बाद में गर्भ बड़ा होने पर माता जो विविध रसों का आहार खाती है उसका सत्व अपने एक भाग (नाल) के द्वारा खाता है। जन्म होने के बाद जीव बालक रहता है तब तक माता का दूध पीता है और घी चाटता है। फिर धीरे धीरे बड़ा होकर चावल, उड़द आदि स्थावर त्रस प्राणों को खाता है!......

इसी प्रकार पांच इन्द्रियवाले जलचर प्राणी जैसे मच्छ, शुंशुमार आदि को समझा जावे, वे केवल छोटे रहने तक (माता के दूध के बदले में) जल का रस खाते हैं। बड़े होने पर वनस्पति तथा स्थावरत्रस प्राणों को खाते हैं।

इसी प्रकार चार पैरवाले, जमीन के ऊपर चलनेवाले, पांच इन्द्रियवाले जैसे एक खुर वाले, दो खुर वाले, सुनार की एरण के समान पैरवाले (हाथी, गैंडे आदि) तथा नखवाले (सिंह, बाघ आदि) प्राणियों को समझा जावे। वे छोटे रहने तक ही माता का दूध पीते हैं पर बड़े होने पर वनस्पति तथा स्थावरत्रस प्राणों को खाते हैं।

इसी प्रकार पेट से चलनेवाले पांच इन्द्रियवाले सांप, अजगर, आशालिक, महोरग आदि प्राणियों को समझा जावे। इनमें से कोई अंडे देते हैं और कोई बच्चों को जन्म देते हैं। वे छोटे रहने तक वायु का आहार करते हैं, बड़े होने पर वनस्पति तथा स्थावरत्रस प्राणों को खाते हैं।

इसी प्रकार भुजा के आधार से जमीन पर चलने वाले पांच इन्द्रियवाले प्राणी जैसे कि न्योला, घूस, कछुआ, बिसमरा, छछून्दर गिलहरी, गिरगट, चूहा, बिल्ली जोंक और चौपाये आदि को समझा जावे।

इसी प्रकार आकाश में उड़नेवाले पांच इन्द्रियवाले पक्षी जैसे चमड़े के पंख वाले (चमगीदड़ आदि) रोम के पंख वाले (सारस) आदि), पेटी के समान पखवाले और विस्तृत पंखवाले पक्षियों को समझा जावे । ये जीव छोटे रहने तक माता का रस खाते हैं।

कितने ही जीव अनेक प्रकार के त्रसस्थावर जीवों के चेतन अथवा अचेतन शरीरों के आश्रय पर (जू, लीख, खटमल, चींटी आदि) जन्म लेते हैं; वे जीव स्थावर और त्रस जीवों का रस पीकर जीते हैं।

इसी प्रकार विष्ठा आदि गंदी चीजों में तथा प्राणियों के चमड़े पर उत्पन्न होने वाले जीवों को समझा जावे।

(३)

(१) जगत् में कितने ही जीव अपने कर्मों के कारण त्रस अथवा स्थावर प्राणियों के चेतन या अचेतन शरीरों में (जलरूप उत्पन्न होते हैं) । वे (जलरूप शरीर) वायु से उत्पन्न होते हैं । वायु ऊपर जाता है तो ऊपर जाते हैं, नीचे जाता है तो नीचे जाते हैं और तिरछा जाता है तो तिरछे जाते हैं । वे निम्न प्रकार के हैं— ओस, हिम, कुहरा, ओले, बादल और वर्षा। वे जीव खुद जिस में उत्पन्न होते हैं, उन्हीं स्थावर त्रस प्राणों के रस को खाते हैं ।

(२) और कितने ही (जलशरीरी जीव) ऊपर के जलों में जल रूप उत्पन्न होते हैं, और उनका रस खाकर जीते हैं।

(३) और इसी प्रकार दूसरे कितने ही जीव अन्य के जल में जलरूप उत्पन्न होते हैं और उनका रस खाकर जीते हैं।

(४) और भी कितने ही जीव उसी जल में त्रस जीवरूप उत्पन्न होते हैं और उसका रस खाकर जीते हैं।

इसी प्रकार अग्निकाय वायुकाय और पृथ्वीकाय के विविध प्रकारों में कुछ निम्न गाथाओं से समझे जावे—

मिट्टी, कंकर, रेती, पत्थर शिला और खनिज नमक;
लोहा, कथीर ताम्बा शीशा, चाँदी, सोना और हीरा ॥१॥
हरताल, हिंगलू, मेनसिल, पारा, सुरमा, प्रवाल;
अभ्रक के स्तर, भोडल की रेती और मणि के प्रकार ॥२॥
गोमेद, रुचक, अंक, स्फटिक, लोहिताक्ष;
मरकत, मसारगल्ल, भुजमोचक, इन्द्रनील (आदि) ॥३॥
चन्दन गेरुक, हंसगर्भ, पुलक सौगन्धिक;
चन्द्रप्रभ, वैडूर्य, जलकांत और सूर्यकान्त ॥ ४ ॥

इस प्रकार विविध प्रकार की उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि वाले सब जीव विविध शरीरों में उत्पन्न होकर विविध शरीरों का आहार करते हैं। (और उन प्राणों की सदा हिंसा किया करते हैं) इस प्रकार अपने बांधे हुए कर्मों द्वारा प्रेरित हो कर उन कर्मों के कारण और उन कर्मों के अनुसार वे बार बार अनेक गति, स्थिति और परिवर्तन को प्राप्त होते रहते हैं।

इसलिये, आहार के सम्बन्ध में इतना कर्म-बन्ध जान कर आहार के विषय में सावधान होओ और अपने कल्याण में तत्पर रहकर, सम्यक् प्रवृत्तिवाले बनकर, हमेशा (इस कर्मबन्ध में से मुक्ति प्राप्त करने के लिये) पुरुषार्थ करो।

—ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने कहा।

चौथा अध्ययन

—(०)—

प्रत्याख्यान

श्री सुधर्मास्वामी बोले—

हे आयुष्मान्! (महावीर) भगवान् से सुनी हुई एक महत्त्वपूर्ण चर्चा अब मैं तुझे कह सुनाता हूं। उसे ध्यानपूर्वक सुन।

“इस जगत् में कितने ही लोग ऐसे होते हैं जिनमें विचार या विवेक न होने से वे जीवन भर किसी वस्तु का नियमपूर्वक त्याग नहीं करते। उन्हें ज्ञान नहीं होता कि कौनसा काम अच्छा है और कौनसा बुरा। वे सर्वथा मूढ़ और निद्रित-से होते हैं। उनके मन, वचन और काया की एक भी क्रिया विचारपूर्वक नहीं होती और इससे वे अनेक मिथ्या-मान्यता और प्रवृत्तियों में डूबे रहने से जीवनभर पापकर्म करते रहते हैं। संक्षेप में, उनमें स्वप्न में रहने वाले मनुष्य के समान भी होश नहीं होते।

तो भी वे जो कर्म करते हैं, उनका बन्धन तो उनको होता ही है।”

आचार्य के इतना कहने पर तुरन्त ही वादी आकर उनको कहने लगा—पापकर्म करने का जिसका मन न हो, वचन न हो, काया न हो अथवा जो यह हिंसा या पाप है जैसा जाने बिना ही हिंसा करता

हो, जिसमें अच्छे-बुरे का ज्ञान न हो, तथा जो मन, वचन और काया की सब क्रियाएं विचार से न करता हो; संक्षेप में जैसा कि आप कहते हैं उसे स्वप्न में रहने वाले मनुष्य के समान भी होश न हो, वह मनुष्य पापकर्म करता है और उसको उसका बन्धन होता है, ऐसा क्यों कहा जाता है ?

उत्तर में आचार्य ने कहा—मैंने कहा वही सच है क्यों कि जो मनुष्य पृथ्वी काय से लेकर त्रसकाय तक के छः कायों के प्रति इच्छापूर्वक व्रतनियम (प्रत्याख्यान) से पापकर्म रोकता नहीं है या त्याग करता नहीं है, वह मनुष्य उन जीवों के प्रति सतत् पापकर्म करते ही रहते हैं। जैसे कोई क्रूर मनुष्य किसी के घर में घुस जाने और उसे मार डालने का मौका पाने का रातदिन सोते-जागते उसीका विचार करता रहता हो तो क्या वह उस मनुष्य के प्रति दोषी नहीं है ? भले ही फिर वह यह न समझता हो कि वह पापकर्म करता है। इसी प्रकार मूढ़ और अविवेकी मनुष्य भी स्वयं न जानते हुए भी रातदिन सोते-जागते सब जीवों के प्रति दोषी है।

इस पर वह वादी उत्तर में कहने लगा—आपका कहना ठीक नहीं है। जगत् में अनेक जीव ऐसे हैं कि जिनको हम सारे जीवन में देखते ही नहीं, सुनते ही नहीं, स्वीकार करते नहीं और जानते नहीं है; तो फिर प्रत्येक के प्रति (पापकर्म नियमपूर्वक त्याग नहीं किया इस लिये) रातदिन सोते-जागते मनुष्य दोषी है, ऐसा क्यों कहा जाता है? इसी प्रकार जो मनुष्य यह नहीं जानता कि वह क्या करता है, वह पाप कर्म करता है, ऐसा क्यों कहा जाता है ?

आचार्य ने उसके उत्तर में कहा—कोई मनुष्य पृथ्वी काय से लेकर त्रस काय तक के छः कायों (जीवों के प्रति ऐसा नियम करता है कि मैं मात्र पृथ्वीकाय जीवों को मार कर ही काम चलाऊँगा; तो वह मनुष्य पृथ्वीकाय के प्रति ही दोषी है। परन्तु शेष कायों (जीवों) के प्रति निर्दोष है किन्तु जो मनुष्य छःकायों में से किसी के प्रति भी कोई मर्यादा या नियम नहीं करता और छः ही प्रकार के जीवों से अपना काम चलाता है, वह मनुष्य तो छः ही प्रकार के जीवों के प्रति दोषी ही है न?

यह मनुष्य जीव का उदाहरण है। उसको पाँचों इन्द्रिय सहित समर्थ करण और तर्कविचार किया जा सके ऐसी संज्ञा शक्ति है। परन्तु पृथ्वी काय से लेकर वनस्पति काय तक के जीव तो ऐसी संज्ञाशक्ति से रहित होते हैं। इसी प्रकार कई त्रस जीव भी ऐसे हैं जिनमें कुछ कराने के लिये, दूसरा करता हो उसे अनुमति देने के लिये जरा भी तर्कशक्ति, प्रज्ञाशक्ति या मन या वाणी की शक्ति नहीं होती। ये सब मूढ़ जीव भी किसी भी जीव के प्रति हिंसादि पापकर्म से नियमपूर्वक विरक्त न होने से, सबके प्रति समान दोषी हैं। और उसका कारण यह है कि सब योनियों के जीव एक जन्म में संज्ञावाले होकर, अपने किये कर्मों के कारण ही दूसरे जन्म में असंज्ञी बनकर जन्म लेते हैं। असंज्ञी होकर फिर से संज्ञी होते हैं। अतएव संज्ञावाले होना या न होना अपने किये हुए कर्मों का ही फल होता हैं। इससे असंज्ञी अवस्था में जो कुछ पापकर्म होते हैं, उसकी जवाबदारी भी उनकी ही है।

इसलिये, संज्ञी या असंज्ञी जो कोई जीव हैं, वे सब जब तक नियमपूर्वक पापकर्म दूर नहीं करते, तब तक वे पापकर्मों के सम्बन्ध

में दोषी ही हैं। और तब तक उनको असंयत, अविरत, क्रियायुक्त और हिंसक कहना चाहिये। भगवान् महावीर ने उनको ऐसा ही कहा हैं।

इस पर वह वादी पूछने लगा—तो फिर क्या करने से जीव संयत, विरत या पाप कर्म का त्यागी कहा जावे?

उत्तर में आचार्य ने कहा—जैसे मुझे कोई मारता है या दुःख देता है तो पीड़ा होती है, उसी प्रकार सब जीवों को भी होता है, ऐसा समझ कर उनको दुःख देने से नियम पूर्वक विरत होना चाहिये। जब तक मनुष्य विविध पापकर्मों को करता है, तब तक वह किसी न किसी जीव की हिंसा करता ही है। इसलिये, सब पापकर्मों से विरत होकर जीवमात्र की हिंसा और द्रोह करने से रुकना ही सम्पूर्ण धर्म है। यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और लोक का स्वरूप सम्पूर्ण जान कर सर्वज्ञों ने उपदेश दिया है। इस प्रकार प्रवृत्ति करने वाला जो भिक्षु पाप से विरत होता है, वह संयत, विरत, क्रिया रहित और पंडित कहाता है।

—ऐसा श्रीसुधर्मास्वामी ने कहा।

पाँचवाँ अध्ययन

—(०)—

सदाचारघातक मान्यताएं

श्री सुधर्मास्वामी बोले—

ब्रह्मचर्य धारण करके निर्वाणमार्ग के लिये प्रयत्नवान् बुद्धिमान् भिक्षु निम्न सदाचारघातक मान्यता न रक्खे; जैसे पदार्थों को अनादि जान कर या अनन्त जान कर, वे शाश्वत हैं या अशाश्वत हैं, ऐसा एक पक्ष न ले क्योंकि एक पक्ष लेने से व्यवहार या पुरुषार्थ घट नहीं सकता। इसलिये, इन दोनों पक्षों को अनाचाररूप समझे। [१–२]

टिप्पणी–शाश्वत—हमेशा एक रूप रहने वाला, जैसे आत्मा हमेशा बद्ध ही रहेगा, ऐसा मानें तो मोक्ष के लिये पुरुषार्थ नहीं घट सकता। आत्मा को यदि अशाश्वत-परिवर्तन शील मानें तो मुक्त होने के बाद भी फिर बद्ध हो, अतएव पुरुषार्थ नहीं घट सकता।

इसी प्रकार यह भी न कहे कि भविष्य में कोई तीर्थंकर नहीं होंगे और सब जीव बन्धन युक्त ही रहेंगे या तीर्थंकर हमेशा होते ही रहेंगे; छोटे या बड़े जन्तु को मारने का पाप बराबर है या नहीं

है, ऐसा कुछ भी न कहे; जो अपने लिये तैयार किया हुआ आहार खाते हैं, वे कर्मों से बंधते हैं, ऐसा भी न कहे; स्थूल, सूक्ष्म और कार्माण आदि शरीरों में ही (सब प्रवृत्तियों की) शक्ति है, ऐसा भी न कहे या उन शरीरों में कुछ शक्ति नहीं है, ऐसा भी न कहे; क्योंकि इन दोनों में से एक पक्ष भी लेने से व्यवहार या पुरुषार्थ नहीं घट सकता। [४-११]

टिप्पणी—आत्मा चेतन है और शरीर जड़, किन्तु इससे यह न माना जावे कि इन दोनों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं। यदि शरीर के जड़ होने से उसको अक्रिय मानें तो मात्र आत्मा शरीर के बिना कुछ नहीं कर सकता; और यदि शरीर को ही सक्रिय मानें और आत्मा को निर्लिप्त कूटस्थ मानें तो फिर चेतन जीव (आत्मा) अपनी क्रियाओं के लिये जवाबदार नहीं रहता।

अब, नीचे की वस्तुएं हैं ही ऐसा मानना चाहिये अन्यथा व्यवहार या पुरुषार्थ नहीं घट सकता। जैसे लोक और अलोक नहीं हैं, ऐसा निश्चय न करे किन्तु ऐसा निश्चय करे कि लोक और अलोक हैं। जीव और अजीव द्रव्य हैं। उसी प्रकार धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, कर्मों का उपादान और निरोध, कर्मों का फल और उनका नाश, क्रिया-अक्रिया, क्रोध-मान, माया-लोभ, राग-द्वेष, चातुर्गतीय संसार, देव देवी, सिद्धि-असिद्धि, सिद्धों का स्थान विशेष (सिद्धशिला) साधु-असाधु और कल्याण तथा पाप हैं, ऐसा ही निश्चय करे, इससे अन्यथा नहीं। कल्याण या पाप इनमें से एक ही को स्वीकार करने से व्यवहार या पुरुषार्थ घट नहीं सकता। जो श्रमण और अविवेकी पंडित इन दोनों में से एक ही को स्वीकार करते हैं, वे कर्म से होने वाले बन्धन को नहीं जानते। [१२-२१]

सब कुछ अक्षय है या दुःख रूप है, जीवहिंसा करना चाहिये या न करना चाहिये ऐसी मिश्रित वाणी न कहे; अमुक भिक्षु सदाचारी है और अमुक दुराचारी है, ऐसा अभिप्राय न रखे; दान दक्षिणा मिलती है अथवा नहीं मिलती ऐसा न बोलता रहे। परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य अपनी शांति का मार्ग बढ़ता जावे, ऐसी सावधानी रखे। [३०-३२]

जिन भगवान् द्वारा उपदेशित इन मान्यताओं के अनुसार आचरण करता हुआ संयमी पुरुष मोक्ष प्राप्त होने तक विचरता रहे। [३३]

—ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने कहा।

छठा अध्ययन

—(०)—

आर्द्रक कुमार

संसार की सूक्ष्म स्नेहपाशों में से अपने को प्रबलता से छुड़ाकर, भगवान् महावीर के पास आते हुए आर्द्रक कुमार को रास्ते में अनेक मतों के प्रचारकों से भेट होती है। वे महावीर और उनके सिद्धान्तों पर अनेक आक्षेप करते हैं और अपनी मान्यताएँ बतलाते हैं। आर्द्रक कुमार उन सबको यथोचित उत्तर देते हैं।

पहिले आजीविक सम्प्रदाय का संस्थापक गोशालक उन्हें कहता है।

गोशालक—हे आर्द्रक! इस महावीर ने पहिले क्या किया है, उसे सुन। पहिले वह अकेला एकान्त में विचरने वाला श्रमण था। अब वह अनेक भिक्षुओं को एकत्रित करके धर्मोपदेश करने को निकला है इस प्रकार इस अस्थिर मनुष्य ने अपनी आजीविका खड़ी कर ली है। उसका वर्तमान आचरण उसके पूर्व आचरण से विरुद्ध है। [१ २]

आर्द्रक—पहिले, अभी और आगे भी उनका अकेलापन है ही। संसार का सम्पूर्ण स्वरूप समझ कर त्रस-स्थावर जीवों के कल्याण के लिये हजारों के बीच उपदेश देने वाला तो एकान्त ही साधता रहता है, क्योंकि उसकी आन्तरिक वृत्ति तो समान ही रहती है। यदि कोई स्वयं शांत, दान्त जितेन्द्रिय

और वाणी के दोष जानने वाला हो तो उसे धर्मोपदेश देने मात्र ही से कोई दोष नहीं लगता। जो भिक्षु महाव्रत, अणुव्रत, कर्म-प्रवेश के पंचद्वार (पाँच महापाप), और संवर तथा विरति आदि श्रमण धर्मों को जानकर कर्मके लेशमात्र से दूर रहता है, उसे मैं श्रमण कहता हूँ [४-६]

गोशालक—हमारे सिद्धान्त के अनुसार ठंडा पानी पीने में, बीज आदि धान्य खाने में, अपने लिये तैयार किये हुए आहार खाने में और स्त्री-संभोग में अकेले विचरने वाले तपस्वी को दोष नहीं लगता। [७]

आर्द्रक— यदि ऐसा हो तो गृहस्थों को भी श्रमण ही कहना चाहिये क्योंकि वे भी ऐसा ही करते हैं ! बीज धान्य खाने वाले और ठंडा पानी पीनेवाले भिक्षुओं को तो मात्र आजीविका के लिये ही भिक्षु हुए समझना चाहिये। संसार का त्याग कर चुकने पर भी वे संसार का अन्त नहीं कर सकते, ऐसा मैं मानता हूं। [८-१०]

गोशालक—ऐसा कहकर तो तू सब ही वादियों का तिरस्कार करता है।

आर्द्रक—सभी वादी अपने मत की प्रशंसा करते हैं और प्रतिवादी का तिरस्कार करके अपने मत को प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं कि तत्त्व तो हमारे पास ही है, अन्य किसी के पास नहीं। परन्तु मैं तो सिर्फ झूठी मान्यता का ही तिरस्कार करता हूं किसी मनुष्य का नहीं। जैन निर्ग्रन्थ दूसरे वादियों के समान किसी के रूप की हंसी करके

अपने मत और मार्ग का उपदेश नहीं देते। जो संयमी किसी भी त्रस स्थावर जीव को कष्ट-दुःख न हो, इस प्रकार सावधानी से जीवन व्यतीत करता है, तो वह किसी का तिरस्कार क्योंकर कर सकता है? [११-१४]

गोशालक-धर्मशालाओं या उद्यानगृहों में अनेक चतुर और छोटे-बड़े तार्किक और अतार्किक मनुष्य होंगे, ऐसा सोचकर तुम्हारा श्रमण वहाँ नहीं रहता। उसे भय बना रहता है कि शायद वे सब मेधावी, शिक्षित, बुद्धिमान् और सूत्र और उनके अर्थ का निर्णय जानने वाले भिक्षु कोई प्रश्न पूछेंगे तो क्या उत्तर दूंगा। [१५-१६]

आर्द्रक— प्रयोजन अथवा विचार के बिना वह कुछ नहीं करता, राजा आदि की जबरदस्ती से भी नहीं। ऐसा मनुष्य किसका भय रक्खेगा? ऐसे स्थानों पर श्रद्धा से भ्रष्ट अनार्य लोग अधिक होते हैं, ऐसी शंका से वह वहां नहीं जाता। किन्तु, प्रयोजन पड़ने पर वह बुद्धिमान् श्रमण आर्यपुरुषों के प्रश्नों का उत्तर देता ही है। [१७-१८]

गोशालक—कोई व्यापारी लाभ की इच्छा से माल बिछा कर बड़ी भीड़ इकट्ठी कर लेता है, ऐसा ही तुम्हारा ज्ञातपुत्र मुझे जान पड़ता है। [१६]

आर्द्रक—व्यापारी-वणिक तो जीवों की हिंसा करते हैं, ममत्वपूर्वक परिग्रह रखते हैं और स्नेह-सम्बन्धियों से आसक्ति नहीं छोड़ते। धन की इच्छावाले, स्त्री-भोग में तल्लीन और कामरस में लोलुप अनार्य आजीविका के लिये दूर दूर

विचरते हैं। वे अपने व्यापार के अर्थ भीड़ इकट्ठी करते हैं, परन्तु उनका लाभ चतुर्गतिक संसार है क्योंकि आसक्ति का फल तो दुःख ही होता है। फिर उनको सदा लाभ ही होता है, ऐसा भी नहीं है। और वह भी स्थायी नहीं होता। उनके व्यापार में तो सफलता और निष्फलता दोनों ही होती हैं। तब वह रक्षा करने वाला ज्ञानी श्रमण तो ऐसे लाभ की साधना करता है जिसका आदि होता है पर अन्त नहीं। ऐसे ये अहिंसक, सब जीवों पर अनुकम्पा करने वाले, धर्म में स्थित और कर्मों का विवेक प्रकट करने वाले भगवान् की तुम अपने अकल्याण को साधने वाले व्यापारियों से समानता करते हो, यह तुम्हारा अज्ञान ही है!

'नये कर्म को न करना और अबुद्धि का त्याग करके पुराने कर्मों को नष्ट कर देना' ऐसा उपदेश ये रक्षक भगवान् देते हैं। यही ब्रह्मव्रत कहा जाता है। इसी लाभ की इच्छावाले ये श्रमण हैं; मैं स्वीकार करता हूं। [२०-२५]

बौद्ध—खोल के पिंड को मनुष्य जानकर भाले से छेद डाले और उसको आग पर सेके अथवा कुमार जान कर तूमड़े को ऐसा करे तो हमारे मत के अनुसार उसको प्राणि-वध का पाप लगता है। परन्तु खोल का पिंड मान कर कोई श्रावक, मनुष्य को भाले से छेद कर आग पर सेके अथवा तूमड़ा मानकर कुमार को ऐसा करे तो हमारे मत के अनुसार उसको प्राणि-वध का पाप नहीं लगता है और इसके द्वारा बौद्धों का पारना होता है।

और, जो हमेशा दो हजार स्नातक भिक्षुओं को भोजन कराता है, वह पुण्य की महाराशि इकट्ठी करके मरने के बाद अरूपधातु नामक स्वर्ग में महाप्रभावशाली देव होता है। [२६-२९]

आर्द्रक—इस प्रकार जीवों की खुले आम हिंसा करना तो सुसंयमी पुरुषों को शोभा नहीं देता। जो ऐसा उपदेश देते हैं और जो ऐसा सुनते हैं, वे तो दोनों अज्ञान और अकल्याण को प्राप्त होते हैं। जिसे संयम और अप्रमादपूर्वक अहिंसाधर्म का पालन करना है और जो त्रस-स्थावर जीवों के स्वरूप को समझता है, वह तुम्हारे कहे अनुसार कभी कहेगा अथवा करेगा? और, तुम कहते हो ऐसा इस जगत् में कहीं हो भी सकता है? खोल के पिंड को कौन मनुष्य मान लेगा? जो ऐसा कहता है वह झूठा है और अनार्य है। [३०-३२]

और भी मन में सत्य को समझते हुए भी बाहर से दूसरी बातें करना क्या संयमी पुरुषों का लक्षण है? बड़े और मोटे मेढ़े को मार कर उसके मांस में नमक डालकर, तेल में तलकर पीपल बुरबुरा कर तुम्हारे भोजन के लिये तैयार किया जाता है। उस मांस को मजे से उड़ाते हुए 'हम पाप से लिप्त नहीं होते,' ऐसा तुम कहते हो। इससे तुम्हारी रसलोलुपता और दुष्ट स्वभाव ही प्रकट होता है। जो वैसा मांस खाता हो, चाहे न जानते हुए खाता हो तो भी उसको पाप तो लगता ही है; तो भी 'हम जान कर नहीं खाते, इसलिये

हमको दोष नहीं लगता, ' ऐसा कहना एकदम झूठ नहीं तो क्या है?

सब जीवों पर अनुकम्पा वाले महामुनि ज्ञातपुत्र ऐसा दोषपूर्ण आहार त्याग करने की इच्छा से अपने लिये तैयार किया हुआ आहार ही नहीं लेते क्योंकि ऐसे आहार में दोष की शंका होती ही है। जो जीवों के प्रति जरा भी दुःख हो ऐसी प्रवृत्ति नहीं करते, वे ऐसा प्रमाद कैसे कर सकते हैं? संयमी पुरुषों का धर्मपालन ऐसा ही सूक्ष्म होता है। [३५, ३७-४२]

और भी, हमेशा दो दो हजार स्नातक भिक्षुओं को जिमाता है वह बड़ा असंयमी है। खून से लथपथ हाथोंवाला वह पुरुष इस लोकमें ही तिरस्कार का पात्र है, फिर तो परलोक में उत्तम गति कैसे प्राप्त हो सकती है? [३६]

जिस वाणी से पाप को उत्तेजन मिलता है उसे कदापि न कहे। ऐसी तत्त्व की वाणी गुणों से रहित है। दीक्षित कहलाने वाले भिक्षु को तो कभी ऐसी वाणी नहीं बोलना चाहिये। [३३]

परन्तु, तुम लोगोंने तो वस्तु के रहस्य का पार पा लिया है! और प्राणियों के कर्मों के फल का भी विचार कर लिया है! पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक का सारा विश्व तुमको हथेली में ही दिखता है! [३४]

वेदवादी द्विज—जो हमेशा दो हजार स्नातक ब्राह्मणोंको जिमाता है, वह पुण्य-राशि प्राप्त करके देव बनता है, ऐसा वेदवाक्य है। [४३]

आर्द्रक—बिल्ली की भांति घर घर खाने की इच्छा से भटकने वाले दो हजार स्नातकों को जो जिमाता है, वह नरकवासी होकर, फाड़ने-चीरने को तड़फते हुए जीवों से भरे हुए नरक को प्राप्त होता है, देवलोक को नहीं। दयाधर्म को त्याग कर हिंसा धर्म स्वीकार करनेवाला मनुष्य शील से रहित एक ब्राह्मण को भी जिमावे तो वह एक नरक में से दूसरे नरक में भटकता रहता है। उसे देवगति क्यों कर प्राप्त होगी? [४४-४५]

वेदान्ती—हम सब एक ही समान धर्म को मानते हैं, पहिले भी मानते थे और भविष्य में भी मानेंगे। अपने दोनों धर्मों में आचार-प्रधान शील और ज्ञान को आवश्यक कहा है। पुनर्जन्म के सम्बन्ध में भी अपने को मत-भेद नहीं है। [४६]

परन्तु, हम एक, अव्यक्त, लोकव्यापी, सनातन, अक्षय और अव्यय आत्मा को मानते हैं। वही सब भूतों को व्याप रहा है—जैसे चंद्र तारों को [४७]

आर्द्रक—यदि ऐसा ही हो तो फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और प्रेष्य; इसी प्रकार कीड़े, पक्षि, साँप, मनुष्य और देव ऐसे भेद ही न रहेंगे। इसी प्रकार (विभिन्न सुख दुःखों का अनुभव करते हुए) वे इस संसार में भटकें ही क्यों?

सम्पूर्ण ऐसे केवल ज्ञान से लोक का स्वरूप स्वयं जाने बिना जो दूसरों को धर्म का उपदेश देते हैं, वे अपना और दूसरों का नाश करते हैं। सम्पूर्ण ज्ञान से लोक का स्वरूप समझ कर और पूर्णज्ञान से समाधि युक्त होकर जो सम्पूर्ण धर्म का उपदेश देते हैं, वे स्वयं तरते हैं और दूसरों को तारते हैं।

इस प्रकार तिरस्कार करने योग्य ज्ञान वाले वेदान्तियों को और सम्पूर्णज्ञान, दर्शन और चारित्र से सम्पन्न जिनों को अपनी समझ से समान कहकर, हे आयुष्मान् ! तू स्वयं अपनी ही विपरीतता प्रकट करता है। [४७–५१]

हस्तीतापस—एक वर्ष में एक महागज को मार कर बाकी के जीवों पर अनुकम्पा करके हम एक वर्ष तक निर्वाह करते हैं।

आर्द्रक—एक वर्ष में एक जीव को मारते हो तो तुम कोई दोष से निवृत्त नहीं माने जा सकते हो, फिर भले ही तुम बाकी के जीवों को न मारते हो। अपने लिये एक जीव का वध करनेवाले तुम और गृहस्थों में थोड़ा ही भेद है। तुम्हारे समान आत्मा का अहित करने वाले मनुष्य केवलज्ञानी नहीं हो सकते। [५३–५४]

ऐसी ऐसी स्वकल्पित मान्यता को मानने के बदले में जिस मनुष्यने ज्ञानी की आज्ञा के अनुसार परम मोक्षमार्ग में मन, वचन और काया से स्थित होकर दोषों से अपनी आत्मा की रक्षा की है, और ऐसा करके समुद्र के समान इस भवसागर को पार कर जाने की समस्त सामग्री प्राप्त की है, ऐसे पुरुष भले ही दूसरों को धर्मोपदेश दें। [५५]

—ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने कहा।

सातवाँ अध्ययन

—(०)—

नालन्दा का एक प्रसंग

श्री सुधर्मास्वामी बोले—

पहिले राजगृह (बिहार प्रान्त की वर्तमान राजगिर) नामक नगर के बाहर ईशान्य कोण में नालन्दा नामक उपनगर (नगर बाहर की बस्ती) था । उसमें अनेक भवन थे। वहां लेप नामक धनवान गृहस्थ रहता था। वह श्रमणों का अनुयायी था । नालन्दा के ईशान्य कोण में शेषद्रव्या नामक उसकी मनोहर उदक शाला (स्नानगृह) थी; उसके ईशान्य कोण में हस्तिकाय नाम का उपवन था। उसमें के एक मकान में भगवान गौतम (इन्द्रभूति) ठहरे थे । उसी उपवन में उनके सिवाय भगवान पार्श्वनाथ का अनुयायी निर्ग्रन्थ मेदार्थ गोत्रीय उदक पेढालपुत्र भी रहता था ।

एक बार वह गौतम के पास आकर कहने लगा—

हे आयुष्यमान् गौतम ! कुमारपुत्र नामक श्रमणनिर्ग्रन्थ जो तुम्हारे मतको मानता है। वह व्रत-नियम लेने को आये हुए गृहस्थ से ऐसा नियम करवाते हैं कि, 'दूसरों की जबरदस्ती के सिवाय, अधिक शक्य न हो तो थोड़ा ही करने की भावना से त्रस जीवों की (ही) हिंसा मैं न करूंगा।' परन्तु सब जीव त्रस-स्थावर योनियों में भटकते रहते हैं। कई बार स्थावर जीव दूसरे जन्म में त्रस होते हैं,

कई बार त्रस स्थावर होते हैं। कोई जीव स्थावर ही नहीं है या त्रस ही नहीं है। अब ऐसी प्रतिज्ञावाला गृहस्थ स्थावर जीवों की हिंसा का अपवाद (छूट) मानकर उनकी हिंसा करता है तो वह अपनी प्रतिज्ञा को भंग करता है। कारण यह कि स्थावर जीव अगले जन्म में त्रस हो सकते हैं। इसलिये, मैं कहता हूँ ऐसा नियम करावे तो कुछ दोष नहीं आवेगा। 'दूसरों की जबरदस्ती के सिवाय...थोड़ा भी करने की भावना से मैं 'अभी' त्रस रूप उत्पन्न जीवों की हिंसा नहीं करूंगा।' ऐसा नियम ही सच्चा नियम हो सकता है। इस प्रकार नियम कराने से ही सच्चा नियम कराया कहा जा सकता है। इसपर गौतम स्वामी ने कहा—

हे आयुष्मान्! तेरा कथन मुझे स्वीकार नहीं है क्योंकि वह यथार्थ नहीं है किन्तु दूसरे को उलझन में डालनेवाला है। तू जो उन गृहस्थों पर प्रतिज्ञाभंग का दोष लगाता है वह भी झूठा है क्योंकि जीव एक योनि में से दूसरी योनि में जाते हैं, यह सत्य होने पर भी जो जीव इस जन्म में त्रस रूप हुए हैं उनके प्रति ही प्रतिज्ञा होती है। तुम जिसको 'अभी' त्रस रूप उत्पन्न कहते हो उसी को हम त्रस जीव कहते हैं। अतएव दोनों का अर्थ समान है। तो फिर हे आयुष्मान्! तुम एक को सच्चा और दूसरे को झूठा क्यों कहते हो? तेरा यह भेद न्यायपूर्ण नहीं है।

त्रस जीव उनको कहते हैं जिनको त्रस रूप पैदा होने के कर्म फल भोगने के लिये लगे होते हैं और इस कारण उनको वह नामकर्म लगा होता है। ऐसा ही स्थावर जीवों का समझा जावे।

बादमें, गौतम स्वामी ने अपनी मान्यता का उदाहरण देते हुए कहा कि कितने ही मनुष्य ऐसा नियम लेते हैं कि जिन्होंने मुंडित

होकर घरबार त्याग करके प्रव्रज्या ली है, उनकी हम मरने तक हिंसा नहीं करेंगे'। उन्होंने गृहस्थ की हिंसा न करने का नियम नहीं लिया होता है। अब मानों कि कोई श्रमण प्रव्रज्या लेने के बाद चार पाँच या अधिक वर्षों तक घूम-घाम कर ऊब उठने के बाद फिर गृहस्थ हो जाता है। अब वह मनुष्य उस गृहस्थ बने हुए श्रमण को मार डाले तो उसका श्रमण को न मारने का नियम टूटा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जिसने केवल त्रस की हिंसा का ही त्याग किया हो वह इस जन्म में स्थावर रूप उत्पन्न जीवों की हिंसा करे तो नियम का भंग नहीं ही होता।

इसके बाद में फिर उदक ने गौतम स्वामी से दूसरा प्रश्न पूछा—हे आयुष्मान् गौतम! ऐसा भी कोई समय आ ही सकता है जब सब के सब त्रस जीव स्थावर रूप ही उत्पन्न हों और त्रस जीवों की हिंसा न करने की इच्छावाले श्रमणोपासक को ऐसा नियम लेने और हिंसा करने को ही न रहे?

गौतम स्वामी ने उत्तर दिया—नहीं, हमारे मत के अनुसार ऐसा कभी नहीं हो सकता क्योंकि सब जीवों की मति, गति और कृति ऐसी ही एक साथ हो जावें कि वे सब स्थावर रूप ही उत्पन्न हों, ऐसा संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक समय भिन्न भिन्न शक्ति और पुरुषार्थ वाले जीव अपने अपने लिये भिन्न भिन्न गति तैयार करते रहते हैं; जैसे कितने ही श्रमणोपासक प्रव्रज्या लेनेकी शक्ति न होने से पौषध, अणुव्रत आदि नियमों से अपने लिये शुभ ऐसी देवगति अथवा सुन्दर कुलवाली मनुष्यगति तैयार करते हैं और कितने ही बड़ी इच्छा प्रवृत्ति और परिग्रह से युक्त

अधार्मिक-मनुष्य अपने लिये नरकादि गति तैयार करते हैं। दूसरे अनेक अल्प इच्छा, प्रवृत्ति और परिग्रह से युक्त धार्मिक मनुष्य देव-गति अथवा मनुष्य गति तैयार करते हैं, दूसरे अनेक अरण्य में, आश्रमों में, गांव बाहर रहने वाले तथा गुप्त क्रियादि साधन करने वाले तापस आदि संयम और विरति को स्वीकार न करके कामभोगों में आसक्त और मूर्छित रह कर अपने लिये असुरी तथा पातकी के स्थान में जन्म लेने और वहां से छूटने पर भी अन्धे, बहिरे या गंगे होकर दुर्गति प्राप्त करेंगे।

और भी, कितने ही श्रमणोपासक जिनसे पौषधव्रत या मारणान्तिक संलेखना जैसे कठिन व्रत नहीं पाले जा सकते, वे अपनी प्रवृत्ति के स्थान की मर्यादा घटाने के लिये सामायिक देशावकालिक व्रत धारण करते हैं। इस प्रकार वे मर्यादा के बाहर सब जीवों की हिंसा का त्याग करते हैं और मर्यादा में त्रस जीवों की हिंसा न करने का व्रत लेते हैं। वे मरने के बाद उस मर्यादा में जो भी त्रस जीव होते हैं, उनमें फिर जन्म धारण करते हैं, अथवा उस मर्यादा में के स्थावर जीव होते हैं। उस मर्यादा में के त्रस-स्थावर जीव भी आयुष्य पूर्ण होने पर उसी मर्यादा में त्रसरूप जन्म लेते हैं, अथवा मर्यादा में के स्थावर जीव होते हैं अथवा उस मर्यादा के बाहर के त्रस-स्थावर जीव उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार मर्यादा के बाहर के त्रस और स्थावर जीव भी जन्म लेते हैं।

इस प्रकार जहाँ विभिन्न जीव अपने अपने विभिन्न कर्मों के अनुसार विभिन्न गति को प्राप्त करते रहते हैं, वहां ऐसा कैसे हो सकता है कि सब जीव एक समान ही गति को प्राप्त हो? और भी, विभिन्न जीव विभिन्न आयुष्य वाले होते हैं इससे वे

विभिन्न समय पर मर कर विभिन्न गति प्राप्त करते हैं। इस कारण ऐसा कभी नहीं हो सकता कि सब जीव एक साथ ही मर कर एक समान ही गति प्राप्त करें कि जिस कारण किसी को व्रत लेना या हिंसा करना ही न रहे।

इस प्रकार उदक के स्वभाव के अनुसार लम्बा उत्तर देकर फिर गौतम स्वामी उसको सलाह देने लगे कि, हे आयुष्मान् उदक! जो मनुष्य पापकर्म को त्यागने के लिये ज्ञान-दर्शन-चारित्र प्राप्त करके भी किसी दूसरे श्रमण ब्राह्मण की झूठी निंदा करता है, और वह भले ही उनको अपना मित्र मानता हो तो भी वह अपना परलोक बिगाड़ता है।

इसके बाद पेढालपुत्र उदक गौतम स्वामी को नमस्कार आदि आदर दिये बिना ही अपने स्थान को जाने लगा। इस पर गौतम स्वामी ने उसे फिर कहा, हे आयुष्यमान्! किसी भी शिष्ट श्रमण या ब्राह्मण के पास से धर्मयुक्त एक भी आर्य सुवाक्य सुनने या सीखने को मिलने पर अपने को अपनी बुद्धि से विचार करने पर ऐसा लगता है कि आज मुझे जो उत्तम योग-क्षेम के स्थान पर पहुँचाया है, उस मनुष्य को उस श्रमण ब्राह्मण का आदर करना चाहिये, उसका सन्मान करना चाहिये, तथा कल्याणकारी मंगलमय देवता के समान उसकी उपासना करना चाहिये।

इस पर पेढालपुत्र उदक ने गौतम स्वामी से कहा—ऐसे शब्द मैंने पहिले कभी नहीं सुने थे, नहीं जाने थे और किसी ने मुझे नहीं कहे थे, इस कारण मैंने ऐसा व्यवहार नहीं किया। पर हे भगवान्! अब ये शब्द सुनकर मुझे उन पर श्रद्धा, विश्वास और रुचि हो गई है। मैं स्वीकार करता हूं कि आपका कथन यथार्थ है।

तब गौतम स्वामी ने कहा—हे आर्य ! इन शब्दों पर श्रद्धा, विश्वास और रुचि कर क्योंकि जो मैं ने कहा है, वह यथार्थ है।

इस पर पेढाल पुत्र उदक ने गौतम स्वामी से कहा—हे भगवन् ! आपके पास मैं चातुर्यामिक धर्म में से (भगवान् पार्श्वनाथ के समय चार व्रत थे। ब्रह्मचर्य का समावेश अपरिग्रह में माना जाता था।) पंच महाव्रत और प्रतिक्रमण विधि के धर्म में आना चाहता हूं।

तब भगवान्गौतम ने कहा—जिसमें सुख हो, वही कर। इस पर पेढाल पुत्र उदक ने भगवान् महावीर के पास पंचमहाव्रत और प्रतिक्रमण विधि के धर्म को स्वीकार किया।

—ऐसा श्री सुधर्मास्वामी ने कहा।

॥ ॐ शान्ति ॥

सूत्रकृतांग के सुभाषित

चित्तमन्तमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि ।
अन्नं वा अणुजाणाई, एवं दुक्खा ण मुच्चई ॥

जब तक मनुष्य (कामिनी कांचन आदि) सचित्त या अचित्त पदार्थों में आसक्ति रखता है, तब तक वह दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। [१-१-२]

सयं तिवायए पाणे, अदुवाऽन्नेहिं घायए ।
हणन्तं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥

जब तक मनुष्य (अपने सुख के लिये) अन्य प्राणियों की हिंसा करता रहता या करते हुये को भला समझता है, वह अपना वैर बढ़ाता रहता है। [१-१-३]

एयं खु नाणिणो सारं, जन्न हिंसई किंचण ।
अहिंसासमयं चेव एतावन्तं वियाणिया ॥

ज्ञानी के ज्ञान का सार यही है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता। अहिंसा का सिद्धान्त भी तो ऐसा ही है। (१-४-१०)

संबुज्झह किं न बुज्झह ! संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥

जागो ! समझते क्यों नहीं ? मृत्यु के बाद ज्ञान प्राप्त होना दुर्लभ है। बीती हुई रात्रियां नहीं लौटती और मनुष्य-जन्म भी फिर मिलना सरल नहीं है। [२-१-१]

जमिणं जगती पुढ़ो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो ।
सयमेव कडेहिं गाहई, णो तस्स मुचेज्जऽपुट्ठयं ॥

संसार में प्राणी अपने कर्मों से ही दुःखी होते हैं, और अच्छी-बुरी दशा को प्राप्त करते हैं। किया हुआ कर्म फल दिये बिना कभी नहीं छूटता। [२-१-४]

जे यावि बहुस्सुए सिया, धम्मिय माहण भिक्खुए सिया ।
अभिणूमकडेहिं मुच्छिए, तिव्वं ते कम्मेहिं किच्चति ॥

मनुष्य भले ही अनेक शास्त्रों का जानकार हो, धार्मिक हो, ब्राह्मण हो या भिक्षु हो; परन्तु यदि उसके कर्म अच्छे न हो तो वह दुःखी ही होगा। [२-१-७]

जई वि य णिगणे किसे चरे, जइ वि य भुंजिय मासमंतसो ।
जे इह मायाइ मिज्जइ, आगंता गब्भाय णंतसो ॥

कोई भले ही नग्नावस्था में फिरे, या मास के अंत में एक बार भोजन करे, परन्तु यदि वह मायावी हो, तो उसको बारंबार गर्भवास प्राप्त होगा। [२-१-९]

पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियन्तं मणुयाण जीवियं ।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जन्ति नरा असंवुडा ॥

हे मनुष्य ! पाप कर्म से निवृत्त हो। मनुष्य का जीवन अल्प है। संसार के पदार्थों में आसक्त और कामभोगों में मूर्छित ऐसे असंयमी लोग मोह को प्राप्त होते रहते हैं। [२-१-१०]

ण य संखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणो पगब्भई।
बाले पावेहि मिज्जई, इति संखाय मूणी ण मज्जई ॥

जीवन की साधना फिर नहीं हो सकती, ऐसा बुद्धिमान् बारबार कहते हैं; तो भी मूढ मनुष्य पापों में लीन रहते हैं। ऐसा जानकर मुनि प्रमाद न करे। [२-२-२१]

महयं पलिगोव जाणिया, जा वि य वंदणपूयणा इहं।
सुहुम सल्ले दुरुद्धरे, विउमन्ता पयहिज्ज संथव ॥

इस संसार के वन्दन-पूजन को कीचड का गड्ढा समझो-यह कांटा अति सूक्ष्म है, बडी कठिनाई से निकलता है; इसी लिये विद्वान् को उसके पास तक न जाना चाहिये। [२-२-११]

अग्गं वणिएहि आहियं, धारेन्ति राइणिया इहं।
एवं परमा महव्वया, अक्खाया उ सराइभोयणा ॥

दूर देशान्तर से व्यापारियों द्वारा लाये हुए रत्न राजा ही धारण कर सकते हैं। इसी प्रकार रात्रि भोजन त्याग से युक्त इन महाव्रतों को कोई बिरले ही धारण कर सकते हैं। [२-३-३]

वाहेण जहा व विच्छए, अबले होइ गवं पचोइए।
से अन्तसो अप्पथामए, नाइवहे अबले विसीयई ॥
एवं कामेसणं विऊ, अज्ज सुए पयहेज्ज संथवं।
कामी कामे ण कामए, लद्धे वा वि अलद्ध कण्हुई ॥

दुबले बैल को मार-कूट कर चलाने पर भी वह तो अधिक ही होता जाता है और अन्त में वजन ढोने के बदले थक कर पड

आता है। ऐसी ही दशा विषयरस सेवन किये हुए मनुष्य की है। परन्तु ये विषय तो आज या कल छोड़कर चले आवेंगे, ऐसा सोचकर कामी मनुष्य को प्राप्त या अप्राप्त विषयों की वासना त्याग दे। [२-३-४, ६]

मा पच्छ असाधुता भवे, अच्चेहि अणुसास अप्पगं।
अहियं च असाहु सोयई, से थणई परिदेवई बहुं ॥

अन्त में पछताना न पड़े इस लिये अभी से ही आत्मा को भोगों से छुड़ाकर समझाओ। कामी मनुष्य अन्त में बहुत पछताते और विलाप करते हैं। [२-३-७]

इणमेव खणं वियाणिया, णो सुलभं बोहिं च आहियं।
एवं सहिएऽहिपासए, आह जिणे इणमेव सेसगा ॥

वर्तमान समय ही एकमात्र अवसर है! बोधि-प्राप्ति सुलभ नहीं है। ऐसा जानकर आत्म-कल्याण में तत्पर बनो। जिन ऐसा ही कहते हैं और भविष्य के जिन भी ऐसा ही कहेंगे। [२-३-१९]

जेहिं काले परिक्कन्तं, न पच्छा परितप्पए।
ते धीरा बन्धणुम्मुक्का, नावकंखन्ति जीवियं ॥

जो समय पर पराक्रम करते हैं। वे बाद में नहीं पछताते। वे धीरमनुष्य बन्धनों से मुक्त होने से जीवन में आसक्ति से रहित होते हैं। [३-४-१५]

जेहिं नारीण संजोगा, पूयणा पिट्ठओ कया।
सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए ॥

जो कामभोग और पूजन-सत्कार को त्याग सके हैं, उन्होंने सब कुछ त्याग दिया है। ऐसे ही लोग मोक्ष-मार्ग में स्थिर रह सके हैं। [३-४-१७

उदगेण जे सिद्धिमुदाहरन्ति, सायं च पायं उदगं फुसन्ता।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी, सिज्झिसु पाणा बहवे दगंसि॥

सुबह- शाम नहाने से मोक्ष मिलता हो तो पानी में रहने वाले अनेक जीव मुक्त हो जावें। [७-१४]

उदयं जई कम्ममलं हरेज्जा, एवं सुहं इच्छामित्तमेव।
अंध व णेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चेव विणिहन्तिं मन्दा॥

पानी पापकर्मों को धो सकता हो तो पुण्यकर्म भी धुल जावें! यह सिद्धान्त तो मनोरथमात्र है। अंधे नेता को अनुसरण करनेवालों के समान वे मूढ़ मनुष्य जीवहिंसा किया करते हैं। [७-१६]

भारस्स जाआ मुणि भुञ्जएज्जा, कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू।
दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा, संगामसीसे व परं दमेज्जा॥

संयम की रक्षा के लिये ही मुनि आहार ग्रहण करे; पाप दूर हों, ऐसी इच्छा करे और दुःख आ पड़े तो संयम की शरण लेकर संग्राम में आगे खड़ा हो इस प्रकार आंतरिक शत्रुओंका दमन करे। [७-२९]

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं।
तब्भावादेसओ वा वि, बालं पण्डियमेव वा॥

प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म है। इनके होने से या नहीं होने ही मनुष्य मूर्ख या पण्डित कहलाता है। [२-३]

जं किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो ।
तस्सेव अन्तरा खिप्पं, सिक्खं सिक्खेज्ज पण्डिए ॥

अपने जीवन के कल्याण का जो उपाय जान पड़े, उसे बुद्धिमान मनुष्य को अपने जीवन में ही तुरन्त सीख लेना चाहिये। [८-१५]

सुयं मे इदमेगेसिं, एयं वीरस्स वीरियं ।
सातागारवणिहुए, उवसन्ते निहे चरे ॥

बुद्धिमान पुरुषों से मैंने सुना है कि सुखशीलता का त्याग करके, कामनाओं को शान्त करके निरीह होना ही वीर का वीरत्व है। [८-१८]

जे या बुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो ।
असुद्धं तेसिं परकन्तं, सफलं होई सव्वसो ॥

जिन्होंने वस्तु का तत्व समझा नहीं है, ऐसे मिथ्या-दृष्टिवाले मनुष्य भले ही पूज्य माने जाते हों और धर्माचरण में वीर हों तो भी उनका सारा पुरुषार्थ अशुद्ध होता है, और उससे उनका बन्धन ही होता है। [८-२२]

जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मतदंसिणो ।
सुद्धं तेसिं परकन्तं, अफलं होई सव्वसो ॥

परन्तु, जिन्होंने वस्तु का तत्व समझ लिया है, ऐसे सम्यग्दृष्टिवाले वीर मनुष्यों का पुरुषार्थ शुद्ध होता है और वे बन्धन को प्राप्त नहीं होते। [८-२३]

तेसिं पि न तवो सुद्धो, निक्खन्ता जे महाकुला ।
जं नेवन्ने वियाणन्ति, न सिलोगं पवेज्जए ॥

प्रसिद्ध कुल में उत्पन्न होकर जो भिक्षु बने हैं और महातपस्वी हैं; यदि उनका तप भी कीर्ति की इच्छा से किया गया हो तो वह शुद्ध नहीं है। जिसे दूसरे न जानते हों, वही सच्चा तप है। अपनी प्रशंसा कभी न करे। [८-२४]

अप्पपिण्डासि पाणासि अप्पं भासेज्ज सुव्वए।
खन्तेऽभिनिव्वुडे दन्ते, वीतगिद्धी सया जए॥

सुव्रत धारण करने वाला थोड़ा खाय, थोड़ा पिये और थोड़ा बोले; क्षमायुक्त, निरातुर, जितेन्द्रिय, और कामनारहित होकर सदा प्रयत्नशील रहे। [८-२५]

लद्धे कामे ण पत्थेज्जा, विवेगे एवमाहिए।
आयरियाइं सिक्खेज्जा, बुद्धाणं अन्तिए सया॥

प्राप्त काम-भोगों में इच्छा न रखना विवेक कहा जाता है। अपना आचार हमेशा बुद्धिमानों के पास से सीखे। [९-३२]

सुस्सूसमाणो उवासेज्जा, सुप्पन्नं सुतवस्सियं।
वीरा जे अत्तपन्नेसी, धीइमन्ता जिइन्दिया॥

प्रज्ञायुक्त, तपस्वी, पुरुषार्थी, आत्मज्ञान के इच्छुक, धृतिमान और जितेन्द्रिय गुरु की सेवा सदा मुमुक्षु करे। [९-३३]

अगिद्धे सद्दफासेसु, आरम्भेसु अणिस्सिए।
सव्वं तं समयातीतं, जमेयं लवियं बहु॥

शब्दादि विषयों में अनासक्त रहे और निंदित कर्म न करे

(यही मुख्य धर्माचरण है) शेष जो विस्तार से कहा गया है, वह सिद्धान्त के बाहर है। [११-२४]

जे आयओ परओ वा वि णच्चा, अलमप्पणो होन्ति अलं परेसिं
तं जोई-भूतं उंच सयावसेज्जा, जे पाउकुज्जा अणुवीइ धम्मं ॥

अपने अन्दर और बाहर दोनों तरह से सत्य को जानकर जो अपना तथा दूसरों का उद्धार करने में समर्थ हैं; ऐसे जगत् के ज्योतिस्वरूप और धर्म का साक्षात् करके उसको प्रकट करने वाले (महात्मा) के निकट सदा रहे। [१२-१९]

णिकिंचणे भिक्खु सुलूहजीवी, जे गारवं होई सिलोगकामी।
आजीवमेयं तु अबुज्झमाणो, पुणो पुणो विप्परियासुवेन्ति ॥

जो सर्वस्व का त्याग करके, रूखे-सूखे आहार पर रहने वाला होकर भी गर्व और स्तुति का इच्छुक होता है, उसका सन्यास ही उसकी आजीविका हो जाती है। ज्ञान प्राप्त किये बिना वह संसार में बारबार भटकेगा। [१३-१२]

एवं ण से होई समाहिपत्ते, जे पन्नवं भिक्खु विउक्कसेज्जा।
अहवा वि जे लाहमयावलित्ते, अन्नं जणं खिसई बालपन्ने ॥

जो अपनी प्रज्ञा से अथवा किसी अन्य विभूति के द्वारा मदमस्त होकर दूसरे का तिरस्कार करता है, वह समाधि को प्राप्त नहीं कर सकेगा। [१३-१४]

गन्थं विहाय इह सिक्खमाणो, उट्ठाय सुबम्भचेरं वसेज्जा।
ओवायकारी विणयं सुसिक्खे, जे छेय से विप्पमायं न कुज्जा ॥

शास्त्र सीखने की इच्छा रखने वाले को कामभोगों का त्याग करके, प्रयत्नपूर्वक ब्रह्मचर्य सेवन करे और गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए चारित्र की शिक्षा प्राप्त करे। चतुर शिष्य प्रमाद न करे।

संखाई धम्मं च वियागरन्ति, बुद्धा हु ते अन्तकरा भवन्ति।
ते पारगा दोण्ह वि मोयणाए, संसोधियं पण्हमुदाहरन्ति ॥

धर्म का साक्षात्कार करके जो ज्ञानी उपदेश देते हैं, वे ही संशय का अन्त कर सकते हैं। अपनी तथा दूसरे की मुक्ति की साधना करने वाले समस्त प्रश्नों का समाधान कर सकते हैं।

अन्ताणि धीरा सेवन्ति, तेण अन्तकरा इह।
इह माणुस्सए ठाणे, धम्ममाराहिउं नरा ॥

बुद्धिमान् मनुष्य (वस्तुओं के) अंत को लक्ष्य बनाये हुए हैं, अतएव वे संसार का अन्त कर सकते हैं। धर्म की आराधना के लिये ही हम मनुष्य लोक में मनुष्य हुए है।

धम्मं कहन्तस्स उ णत्थि दोसो, खन्तस्स जिइन्दियस्स।
भासाय दोसे य विवज्जगस्स, गुणे य भासाय णिसेवगस्स ॥

धर्म का कथन करनेवाला यदि शांत, दांत, जितेन्द्रिय, वाणी के दोषों से रहित और वाणी के गुणों को सेवन करने वाला हो तो दोष नहीं लगता।

वायाभियोगेण जमावहेज्जा, णो तारिसं वायमुदाहरेज्जा ।
अट्ठाणमेयं वयणं गुणाणं, णो दिक्खिए बूय सुरालमेयं ॥

जिस वाणी के बोलने से पाप को उत्तेजन मिले, उसे कभी न बोले। दीक्षित भिक्षु गुणों से रहित और तथ्यहीन कुछ न बोले।

बुद्धस्स आणाए इमं समाहिं, अस्सिं सुठिच्चा तिविहेणं ताई ।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं, आयाणवं धम्ममुदाहरेज्जा ॥

ज्ञानी की आज्ञानुसार मोक्ष-मार्ग में मन, वचन और काया से स्थित होकर जो अपनी इन्द्रियों की रक्षा करता है तथा जिसके पास समुद्र रूप इस संसार को पार कर जाने की सर्व सामग्री है, ऐसा मनुष्य भले ही दूसरों को धर्मोपदेश दे।